पतञ्जलि का व्याकरण दर्शन

डॉ. लक्ष्मीनारायण उपाध्याय
'विद्यावारिधि'

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला
२७८

पतञ्जलि का व्याकरण-दर्शन

लेखक :
डॉ० लक्ष्मीनारायण उपाध्याय 'विद्यावारिधि'
वरिष्ठ व्याख्याता व्याकरण
रानी पद्मावती तारा योगतन्त्र आदर्श सं० म० विद्यालय
इन्द्रपुर, शिवपुर, वाराणसी

सम्पादक :
डॉ० विजय शंकर पाण्डेय
शास्त्रचूड़ामणि विद्वान्
संस्कृत विभाग, म० गां० काशी विद्यापीठ
वाराणसी

प्रकाशक :
चौखम्बा विद्याभवन
चौक, वाराणसी-२२१००१

पतञ्जलि का व्याकरण-दर्शन

ISBN : 978-93-85098-38-3

प्रकाशक

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
चौक (बैंक ऑफ बड़ौदा भवन के पीछे), वाराणसी-२२१००१
दूरभाष : ०५४२-२४२०४०४
ई-मेल : cvbhawan@yahoo.co.in

संस्करण २०१५ ई०
मूल्य : ₹ ४००.०० (सजिल्द)

अन्य प्राप्तिस्थान :

चौखम्बा इण्डोवेस्टर्न पब्लिशर्स

के. ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन, वाराणसी-२२१००१
दूरभाष-०५४२-२३३३४३१
वेबसाइट : www.indowesternpublishers.com

❖

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस

४६९७/२, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर), गली नं. २१-ए, ए. अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ दूरभाष : ०११-२३२८६५३७

❖

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-११०००७
दूरभाष—०११-२३८५६३९१

❖

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के. ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन, वाराणसी-२२१००१
दूरभाष-०५४२-२३३५२६३

भूमिका

प्राचीन भारतीय व्याकरणशास्त्रीय वाङ्मय के अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि भारतवर्ष में व्याकरणशास्त्र तथा उसके दर्शन के अध्ययन एवं प्रणयन की परम्परा का सूत्रपात अति प्राचीन युग में हो गया था। व्याकरण-रचना के निमित्त विभिन्न पारिभाषिक शब्दों एवं लक्षणों का आश्रय लेना पड़ा। उन पर विचार-विमर्श करने पर विभिन्न मतभेद उत्पन्न हुए तथा उनके उपयुक्त समाधान की खोज में जिज्ञासा उत्पन्न हुई। इस प्रकार जिज्ञासा उत्पन्न होने पर गम्भीर चिन्तन हुआ तथा व्याकरण-दर्शन की पृष्ठभूमि प्रस्तुत हुई। व्याकरण-दर्शन के मूल-तत्त्व 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' इस मन्त्रांश में उपलब्ध होते हैं। इसके साथ ही गोपथब्राह्मण के 'ओंकारः पृच्छामः' इत्यादि उद्धरण में विद्यमान प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत कर दिया जाय तो समग्र व्याकरण-दर्शन की रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है। उपर्युक्त उद्धरण की जिज्ञासा का समाधान भी वहीं पर प्रस्तुत किया गया है, जिससे प्रतीत होता है कि उस समय इस विषय के विशेषज्ञ भी विद्यमान थे। निरुक्तकार यास्काचार्य ने भी नाम और आख्यात आदि के विवरण प्रस्तुत किए हैं। इसी प्रसंग में कतिपय पूर्वाचार्यों के मतों का भी उल्लेख किया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि व्याकरण का दार्शनिक विवेचन परम्परागत रूप से होता रहा है। पाणिनि के पूर्ववर्ती व्याकरण-दर्शन सम्बन्धी विचार अत्यल्प मात्रा में उपलब्ध होते हैं। व्याकरण-दर्शन का सर्वांगपूर्ण विधिवत् विवेचन आचार्य पाणिनि के व्याकरण में ही सम्पन्न हुआ है।

अष्टाध्यायी की रचना द्वारा पाणिनि ने भाषा के विविध तत्त्वों का दार्शनिक विवेचन कर सामान्यीकरण और नियमन की प्रक्रिया के आधार पर अनेक नियमों को सूत्र-शैली में प्रस्तुत कर संस्कृत व्याकरण-शास्त्र की एक नई क्रमिक पद्धति का आविष्कार किया, जिसके द्वारा भाषा के सभी तत्त्वों एवं अर्थों की सोपपत्तिक व्याख्या सम्भव है। इसके साथ ही नवीन अर्थों के लिए सोपपत्तिक शब्द-रचना का भण्डार भी प्रस्तुत कर दिया है। पाणिनि के अनेक सूत्र स्वयं में एक दर्शन हैं। उनके द्वारा प्रयुक्त विभाषा, पदविधि, आदेश, वीप्सा, प्रतिषेध, भावलक्षण, शब्दार्थ, प्रकृति जैसे अनेक शब्द इस बात के प्रतीक हैं कि वे उन दिनों के दार्शनिक वादों से पूर्णतया अवगत थे। पाणिनि प्रमाणभूत आचार्य हैं। परवर्ती वैयाकरण-दार्शनिकों ने व्याकरण-दर्शन सम्बन्धी जो कुछ विचार व्यक्त किए हैं, उनका अनुमोदन वे किसी न किसी प्रकार पाणिनि के सूत्रों से करते हैं। किसी प्राचीन विद्वान् का कथन है कि 'जो कुछ वृत्ति ग्रन्थों में है, वह सब सूत्रों में ही है।' व्याकरण-दर्शन के विषय में भी यह उचित है।

पाणिनि के पश्चात् व्याकरण-दार्शनिकों में 'व्याडि' का नाम उल्लेखनीय है। व्याडि ने व्याकरण-शास्त्र तथा व्याकरण-दर्शन सम्बन्धी सिद्धान्तों का वर्णन 'संग्रह' नामक ग्रन्थ में किया था। नागेश का कथन है कि यह ग्रन्थ एक लाख श्लोकों से युक्त था। व्याकरण-दर्शन की दृष्टि से यह ग्रन्थ कितना महत्त्वपूर्ण था, यह पतञ्जलि के इस आशय से स्पष्ट होता है—'शब्द की नित्यता और अनित्यता के विषय में 'संग्रह' में विस्तार से विचार किया गया है।' भर्तृहरि तथा उनके टीकाकार पुण्यराज ने करुणापूर्ण शब्दों में लिखा है—'व्याडि का बनाया एक लाख श्लोकों का 'संग्रह' नामक ग्रन्थ था; खेद का विषय है कि वैयाकरणों की उपेक्षा-दृष्टि, अध्यवसायहीनता, पल्लवग्राहि-पाण्डित्य की प्रवृत्ति के कारण वह संसार से लुप्त हो गया।' भर्तृहरि ने अन्यत्र कहा है—'यह 'संग्रह' ग्रन्थ पाणिनि सम्प्रदाय से सम्बद्ध ग्रन्थ था'। व्याडि ने इस ग्रन्थ में चतुर्दश सहस्त्र वस्तुओं पर विचार किया था। इसके अनेक उद्धरण अधिकांशत: वाक्यपदीय की भर्तृहरिरचित वृत्ति में उपलब्ध होते हैं। उनसे यह स्पष्ट होता है कि 'संग्रह' में ध्वनि, वर्ण, पद, वाक्य, अर्थ, सम्बन्ध आदि विषयों पर विचार किया गया था। इसके अतिरिक्त व्याकरण-दर्शन के क्षेत्र में उन्होंने शब्द द्वारा 'द्रव्य' के अभिधान का प्रतिपादन किया जबकि वाजप्यायन ने शब्द के द्वारा 'जाति' के अभिधान का प्रतिपादन किया। व्याडि के मत में पद और वाक्य का निर्णय अर्थ द्वारा होता है। अत: शब्द से अर्थ का महत्त्व अधिक है। अपभ्रंश पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा था कि अपभ्रंश की प्रकृति (मूल) संस्कृत है। इन्हीं आधारों पर पतञ्जलि ने व्याडि की प्रशंसा मुक्त कण्ठ से की है।

व्याकरण-दर्शन के क्षेत्र में कात्यायन का योगदान भी अद्वितीय है। इन्होंने व्याकरण के प्राकृत स्वरूप का तो परिष्कार किया ही, साथ ही व्याकरण के दार्शनिक रूप का भी अद्वितीय रूप में विकास किया। इनका प्रथम वार्तिक 'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे' एक ओर तो इनके दार्शनिक चिन्तन को प्रतिपादित करता है, तो दूसरी ओर एक वाक्य में समग्र व्याकरण-दर्शन सन्निहित है। इन्होंने सूत्रों की व्याख्या की एक अपूर्व शैली द्वारा केवल उक्त, अनुक्त एवं दुरुक्त का ही प्रतिपादन नहीं किया, अपितु व्याख्यान के माध्यम से अनेक न्याय-वाक्यों का सर्जन भी किया। परवर्ती काल में कात्यायन के वाक्य तथा इष्टियाँ परिभाषा एवं न्याय का रूप ले लेती हैं। इन्होंने व्याकरण-दर्शन को लोक-विज्ञान से सम्बद्ध किया है। क्योंकि व्याकरण-दर्शन अवयवावयवीभाव, अधिकरण आदि की व्याख्या, लोक-विज्ञान के आधार पर करता है। कात्यायन ने उत्सर्ग, अपवाद, निपातन, स्थानी, आदेश, नियम आदि सामान्य-विशेष प्रकारों से अपनी व्याख्या-पद्धति को दार्शनिक स्वरूप प्रदान किया है। अपने वार्तिकों में प्रकृत्यर्थ, विशेषणवाद, प्रकृति-नियमवाद आदि वादों का समावेश भी किया है। भर्तृहरि के वाक्यपदीय का तृतीय समुद्देश्य कात्यायन के कुछ वार्तिकों की व्याख्या मात्र है। संस्कृत व्याकरण-दर्शन के लिए इनकी वाक्य की परिभाषा भी अधिक महत्त्वपूर्ण है।

कात्यायन के पश्चात् महाभाष्यकार पतञ्जलि का नाम व्याकरण-दर्शन के विचारकों में उल्लेखनीय है। भर्तृहरि तथा पुण्यराज का कथन है कि तत्त्वदर्शी भगवान् पतञ्जलि ने व्याकरण-दर्शन को अक्षुण्ण रखने के लिए करुणाभाव से प्रेरित होकर दार्शनिक सिद्धान्तों एवं न्याय-बीजों का अपने महाभाष्य में समावेश किया है। पूर्वोक्त व्याडि के 'संग्रह' ग्रन्थ का प्रतिनिधि ग्रन्थ है महाभाष्य। कात्यायन एवं अन्य वार्तिककारों के वार्तिकों में जो कुछ है वह तो महाभाष्य में विद्यमान ही है। इसके अतिरिक्त यहाँ अन्य भी बहुत कुछ है। अतएव महाभाष्य व्याकरण और व्याकरण-दर्शन दोनों का आकर ग्रन्थ है। इसीलिए पुण्यराज ने लिखा है कि महाभाष्य में अनेक विद्यावाद तथा दर्शन-प्रवाद हैं। पतञ्जलि ने जो कुछ भी कहा है; वह सूत्र और वार्तिकों के माध्यम से भाष्य के रूप में कहा है। जहाँ सूत्रकार तथा वार्तिककार से पतञ्जलि का मत-वैषम्य है, वहाँ मौलिक विचार महाभाष्यकार के ही हैं। व्याकरण-दर्शन की दृष्टि से ऐसे स्थलों पर भर्तृहरि आदि विद्वानों की दृष्टि गई है, तथा अनेक स्थलों पर तीनों के दर्शन की पृथक्-पृथक् चर्चा की है। वस्तुतस्तु सूत्रकार और वार्तिककार के विचार भी पतञ्जलि की व्याख्या के सहारे ही स्वरूप ग्रहण करते हैं, अत: सम्पूर्ण व्याकरण-दर्शन महाभाष्य में इतस्तत: विकीर्ण हैं। भर्तृहरि ने इन विचारों को वाक्यपदीय में अपने ढंग से एकत्र किया है। पतञ्जलि ने वर्ण, शब्द, आकृति, द्रव्य, पदार्थ, गुण, लिंग, संख्या, वाक्य, तथा वाक्यार्थ आदि पर दार्शनिक दृष्टि से विचार किया है।

आचार्य वसुरात ने महाभाष्य के आधार पर व्याकरण-दर्शन को विस्तृत रूप प्रदान कर उसे भर्तृहरि को दिया; उसी का मूर्तरूप 'वाक्यपदीय' आज हमारे सामने हैं। इसमें तीन काण्ड हैं। प्रथम, द्वितीय काण्ड पर भर्तृहरि ने स्वोपज्ञवृत्ति की भी रचना की है। जो व्याकरण-दर्शन की दृष्टि से अपना पृथक् महत्त्व रखती है। भर्तृहरि खण्डन-मण्डन के चक्कर में नहीं पड़े हैं। उन्होंने विभिन्न मतों को अतीव सौजन्य के साथ प्रस्तुत किया है। कहीं-कहीं इस सौजन्य में उनके अपने मत का निर्णय करना दु:साध्य हो जाता है। इसके अतिरिक्त भर्तृहरि ने महाभाष्य पर 'दीपिका' नाम्नी टीका भी लिखी थी जो समग्ररूप में उपलब्ध नहीं होती है। इसमें पतञ्जलि के दार्शनिक विचारों को सरल ढंग से स्पष्ट किया गया है।

व्याकरण-दर्शन को वैज्ञानिक एवं क्रमिक रूपेण प्रस्तुत करनेवाले ग्रन्थ वाक्यपदीय की टीका कश्मीरी ब्राह्मणों ने की है। प्रथम-काण्ड की टीका हरिवृषभ ने की है। इन्होंने हरिवृत्ति पर भी टीका लिखी थीं। द्वितीय-काण्ड की टीका पुण्यराज ने लिखी है। तृतीय काण्ड प्रकीर्णक के टीकाकार हेलाराज हैं। इन्होंने 'प्रकीर्ण प्रकाश' नाम्नी टीका लिखी है। इन्होंने वाक्यपदीय के प्रथम एवं द्वितीय काण्ड पर भी टीका ग्रन्थ लिखे थे, परन्तु वह टीका अब अनुपलब्ध हैं। प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्ट आदि ने श्लोकवार्तिक तथा तंत्रवार्तिक दोनों में वर्ण, पद, वाक्य, प्रतिभा, स्फोट सम्बन्धी वाक्यपदीय में आये मतों की आलोचना की है।

प्राचीन नैयायिक विद्वान् जयन्त भट्ट ने 'न्याय मंजरी' में व्याकरण दर्शन की कुछ मान्यताओं की आलोचना की है। ये एक श्रेष्ठ वैयाकरण थे।

छठीं शताब्दी से दशवीं शताब्दी तक के प्रमुख वैयाकरणों में काशिकाकार न्यासकार, हरदत्त, कैयट तथा भोज उल्लेखनीय हैं। उन्होंने व्याकरण-दर्शन पर स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं लिखे; किन्तु इनकी टीकाओं में व्याकरण-दर्शन सम्बन्धी प्रचुर सामग्री विद्यमान है। न्यासकार के विचार मौलिक हैं। कैयट ने महाभाष्य-प्रदीप में वाक्यपदीय के अनेक उलझे विचारों को संक्षेप में स्पष्ट रूपेण प्रस्तुत किया है। महाभाष्य के दार्शनिक संकेतों को 'प्रदीप' में अच्छी तरह सुलझाया गया है। व्याकरण-दर्शन की दृष्टि से कैयट का प्रदीप एक उत्कृष्ट रचना है।

सरस्वतीकण्ठाभरण के रचयिता 'भोज' ने शृङ्गारप्रकाश में व्याकरण-दर्शन सम्बन्धी विचार-विमर्श प्रस्तुत किया है। इसमें व्याकरण-दर्शन के प्रायः सभी पक्षों का विश्लेषण किया गया है।

संस्कृत व्याकरण-दर्शन पर विचार-विमर्श एवं व्याख्या प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थ ११वीं शताब्दी से लेकर १९वीं शताब्दी तक काल सीमा में उपलब्ध होते हैं, उनका उल्लेख तो अनेक ग्रन्थों में मिलता है, परन्तु ये प्रकाशितग्रन्थ अत्यल्प मात्रा में हैं। इन ग्रन्थों के सभी लेखक मूलतः दार्शनिक नहीं थे, पुनरपि उन्होंने जैसे व्याकरण के अन्य पक्षों पर विचार किया है वैसे ही व्याकरण-दर्शन पर भी कुछ लिखा है। ऐसे विद्वानों में पुरुषोत्तम देव का 'कारकचक्र' व्याकरण-दर्शन से सम्बन्धित है। मधवाचार्य ने 'सर्वदर्शन संग्रह' में पाणिनि-दर्शन के नाम से व्याकरण-दर्शन का परिचय दिया है। भट्टोजिदीक्षित के गुरु शेष श्रीकृष्ण ने शब्दाभरण नामक ग्रन्थ लिखा था जो अप्राप्य है। इनका 'स्फोट तत्त्व निरूपण' प्रकाशित हो गया है। इनके प्रक्रियाप्रकाश तथा पदचन्द्रिका विवरण में भी व्याकरण-दर्शन के तत्त्वों की समीक्षा की गई है। शेष श्रीकृष्ण के पुत्र शेषनारायण ने महाभाष्य पर 'सूक्ति रत्नाकर' नाम्नी टीका लिखी है, इसमें मीमांसा-दर्शन तथा व्याकरण-दर्शन का अनेकत्र तुलनात्मक विवेचन किया गया है। भट्टोजिदीक्षित ने 'शब्द कौस्तुभ' में व्याकरण के दार्शनिक पक्ष पर भी विचार किया है। इसमें उल्लिखित कारिकाओं का संग्रह 'वैयाकरण सिद्धान्त कारिका' नाम से प्रसिद्ध है। इसमें व्याकरण के दार्शनिक पदों के अर्थ उल्लिखित हैं। १७वीं शताब्दी से लेकर १८वीं शताब्दी तक अनेक वैयाकरण तथा नैयायिक विद्वानों ने व्याकरण-दर्शन पर लिखा है। इनमें कौण्ड भट्ट ने 'वैयाकरणभूषण' लिखा जो भट्टोजिदीक्षित की कारिकाओं की व्याख्या है। इस ग्रन्थ में प्रथम बार एक वैयाकरण ने मीमांसकों, नैयायिकों तथा वेदान्तियों के आरोपों का उत्तर दिया है। नागेश ने व्याकरण-दर्शन पर 'वैयाकरण सिद्धान्त मंजूषा' नामक ग्रन्थ लिखा है। इस पर कृष्ण मित्र तथा वैद्यनाथ ने सार-गर्भित टीका लिखी है। नागेश ने स्फोट वाद पर भी एक पृथक् ग्रन्थ लिखा है।

जगदीश भट्टाचार्य कृत 'शब्दशक्ति प्रकाशिका' भी व्याकरण-दर्शन से सम्बद्ध है। श्री गिरधर भट्टाचार्यकृत विभक्त्यर्थनिर्णय तथा गोकुलनाथकृत 'पदवाक्य रत्नाकर' भी उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। भरतमित्र ने स्फोटवाद पर एक लघुग्रन्थ लिखा है। कृष्णमित्र ने व्याकरण-दर्शन से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें 'वादसुधारक' 'लघु-विभक्त्यर्थ निर्णय' तथा वृत्तिदीपिका विशेष उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार के ग्रन्थों में लक्ष्मीदत्त का 'पदार्थ दीपक' मोनीकृष्ण भट्ट की स्फोटचन्द्रिका, रसमनन्दि का कारकसम्बन्धोद्योत, अचलो-पाध्याय का वाक्यपाद तथा श्री हरियशोमित्र की वाक्यदीपिका (वाक्यवाद की टीका) उल्लेखनीय है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में व्याकरण-दर्शन के विषय में डॉ० गोपीनाथ कविराज, प्रो० के० एस० अय्यर तथा पं० अम्बिका प्रसाद उपाध्याय ने उच्चकोटि के निबन्ध लिखे हैं। प्रभात चक्रवर्ती की 'फिलासफी ऑफ संस्कृतग्रामर' तथा 'लिंग्वंस्टिक स्पेकुलेशन ऑफ द हिन्दूज' दो पुस्तकें इस समय की है। पं० रामाज्ञा पाण्डेय का प्रतिभा-दर्शन, व्याकरण-दर्शन की भूमिका तथा पीठिका, एवं सभापति शर्मा की मंजूषा की टीका भी उल्लेखनीय है। पं० रघुनाथ शर्मा ने वाक्यपदीय पर संस्कृत में टीका लिखी है, तथा सूर्यनारायण शुक्ल ने भी संस्कृत में टीका लिखी है। व्याकरण-दर्शन पर शोध-ग्रन्थों में गौरीनाथ शास्त्री का 'फिलासफी ऑफ बर्ड एण्ड मीनिंग', कपिलदेव का 'अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन', डॉ० सत्यकाम वर्मा का 'व्याकरण-दर्शन की भूमिका' तथा 'भाषा तत्त्व और वाक्यपदीय', डॉ० रामसुरेश त्रिपाठी का 'संस्कृत व्याकरण-दर्शन', डॉ० बलदेव उपाध्याय का 'पद-पदार्थ समीक्षा', तथा श्री अय्यर का 'भर्तृहरि' नामक नवीनतम कृतियाँ हैं।

यही व्याकरण सम्बन्धी दार्शनिक ज्ञान की वर्तमान दशा का उल्लेख हैं। अग्रिम शीर्षक में व्याकरण-दर्शन के समीक्षात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन की उपादेयता तथा क्षेत्र का विवेचन किया जायेगा।

व्याकरण-दर्शन से क्या तात्पर्य है? यह जिज्ञासा स्वभावतः उत्पन्न होती है। क्योंकि व्याकरण शब्द का अर्थ सामान्यतः भाषा-प्रयोग सम्बन्धी नियमों एवं उपनियमों से गृहीत किया जाता है। दर्शन पद का अभिप्राय प्रायः जीव, जगत् तथा ईश्वर सम्बन्धी विचार ही लिया जाता है। क्योंकि व्याकरण से किसी भाषा के गति और विकास का अध्ययन होता है। अतः व्याकरण का सम्बन्ध साक्षात् लोकजीवन से है। जबकि दर्शन का सम्बन्ध मानव के लोकोत्तर जीवन को नियमित करने से हैं। भौतिक दृष्टि से भाषा प्रादेशिक वस्तु है, तथा क्षेत्रीय भौगोलिक सीमाओं में आबद्ध हैं। अतः भाषा की गति एवं विकास-क्रम पर विचार करने के कारण, व्याकरण भी प्रत्येक भाषा के अनुसार प्रादेशिक सीमाओं में आबद्ध रहता है। इसके विपरीत दर्शन, इन भौगोलिक भौतिक सीमाओं में आबद्ध नहीं रहता है; क्योंकि दर्शन दृश्य और अदृश्य जगत् के व्यापारों तथा

उसकी प्रक्रियाओं का विश्लेषण एवं चिन्तन करता है। भले ही उस जीवन का अस्तित्व विश्व के किसी स्थान में न हो। अतः दर्शन का क्षेत्र सार्वत्रिक एवं व्यापक है, तथा व्याकरण का क्षेत्र प्रादेशिक है। इस प्रकार. व्याकरण एवं दर्शन दोनों में परस्पर विरोधाभास प्रतीत होता है। क्योंकि यदि व्याकरण एक प्रादेशिक वस्तु है, तो दर्शन एक सार्वत्रिक। तब क्या प्रत्येक व्याकरण का दर्शन सार्वत्रिक नहीं कहा जायेगा। अथवा भिन्न-भिन्न व्याकरणों का दर्शन किसी एक स्तर पर एक समान मानना चाहिए। क्योंकि दर्शन सार्वत्रिक है, अतः व्याकरण-दर्शन भी सार्वत्रिक होना चाहिए।

उस शास्त्र का नाम 'दर्शन' है जो काल, क्रम और प्रदेश की सीमाओं में आबद्ध नहीं किया जा सकता है। इस स्थिति में विभिन्न भाषाओं का बाह्य और उस पर आधारित व्याकरण भले ही भिन्न-भिन्न हो जाय, परन्तु अन्तर्निहित चिन्तन पद्धति, जो जनमानस का विश्लेषण करती है, एक समान ही होनी चाहिए। प्रत्येक विचारक के विविधतायुक्त चिन्तन में भी किसी रूप में व्यापकता एवं एकता का सूत्र खोजा जा सकता है। यही प्रत्येक भाषा के व्याकरण का दर्शन है। यद्यपि बाह्य रूप में सभी भाषायें परस्पर भिन्न हैं; परन्तु यह भिन्नता केवल बाह्य रूप तक ही सीमित है। मूलतः उनके विकास में मानव मात्र प्रायः एक ही विचारधारा से प्रेरित रहता है, अतः उसकी दार्शनिक आधारभूमि भी प्रायः समान ही है। क्योंकि व्याकरण भाषा के बाह्य रूप पर ही विचार नहीं करता, अपितु भाषा की अन्तर्वृत्ति (मूलभावना) का भी अनिवार्यतः पर्यालोचन करता है। यह अन्तर्वृत्ति सभी भाषा-भाषियों में एक समान भी हो सकती है। अतः व्याकरण-दर्शन का कार्य भाषा मात्र और उनके व्याकरण में अन्तर्निहित समान अन्तर्वृत्ति के सभी दार्शनिक आधारों का अन्वेषण करना है।

व्याकरण-दर्शन के समीक्षात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन की उपादेयता के विषय में कहा जा सकता है कि सर्वप्रथम मानव का स्वभाव है कि वह प्रत्येक विषय का क्रमिक समग्र ज्ञान उपलब्ध कराने का आकांक्षी होता है। उस समग्र ज्ञान की उपलब्धि व्याकरण-दर्शन के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा ही सम्भव है। वाक् और अर्थ का सम्यक् ज्ञान ही वाणी के वास्तविक स्वरूप एवं रहस्य को अभिव्यक्त करने में समर्थ है, तथा वागर्थ की वास्तविक प्राप्ति बिना व्याकरण-दर्शन के असम्भव है। इसका कारण यह है कि व्याकरण दार्शनिकों की मान्यता है कि समग्र ब्रह्माण्ड शब्दब्रह्म का ही विवर्त है। उस शब्दब्रह्म का स्वरूप क्या है? इसकी प्राप्ति का उपाय क्या है? इत्यादि प्रश्नों का समाधान व्याकरण-दर्शन के अध्ययन द्वारा ही सम्भव है। व्याकरण-दर्शन का अध्ययन भाषा तथा वाणी के विविध प्रश्नों पर तात्त्विक दृष्टि से प्रकाश डालता है। इसी आधार पर भारतीय वैयाकरण मनीषियों ने शब्दब्रह्म का प्रतिपादन करते हुए यह स्पष्ट किया है कि शब्द रूपी ब्रह्म परिबृहणशील है, वह सदैव सीमाओं से अग्रगामी रहता है। उसकी सीमा अल्प या महान् स्फोट, काल अथवा किसी अन्य ध्वनि पर आधारित नहीं है।

अपितु उसकी सीमा का वास्तविक आधार अर्थ-भावना पर आधारित है। भर्तृहरि का शब्द को ब्रह्म कहने का यही अभिप्राय है। इस शब्दब्रह्म का विवेचन या साक्षात्कार व्याकरण-दर्शन एवं उसकी समीक्षात्मक पद्धति द्वारा ही सम्भव है।

प्रत्येक प्राणी अपूर्णता से पूर्णता की दिशा में अग्रसर होना चाहता है। मानव-जीवन के समग्र कार्य-कलाप शब्दार्थ-ज्ञान द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। शब्दार्थ एवं उनके प्रयोग में पूर्णता तथा अपूर्णता का ज्ञान व्याकरण-दर्शन के समीक्षात्मक अध्ययन द्वारा ही सम्भव है।

जिस प्रकार भाषा का क्षेत्र विशाल एवं असीमित है, उसी प्रकार व्याकरण-दर्शन का भी क्षेत्र विशाल है। वेद, निरुक्त, शिक्षा, व्याकरण एवं प्रतिशाख्य ग्रन्थों में भाषा-विषयक तथा व्याकरण-दर्शन सम्बन्धी तत्त्वों का विवेचन प्रासंगिक रूप में होता रहा है। मीमांसा के अतिरिक्त किसी भी दर्शन का सम्बन्ध साक्षात् रूप से भाषा-विवेचन नहीं रहता ; परन्तु उसमें वाक्यार्थ विषयक विचार वेदों की भाषा तक ही सीमित रहता है। वहाँ वाक्उत्पत्ति, भाषारचना आदि पर स्वतंत्र विचार नहीं हुआ है। प्रतिशाख्य ग्रन्थों में व्यक्त विचार, मुख्यत: नादात्मक ध्वनियों के विनिश्चय एवं विभाजन पर हुआ है। इन ग्रन्थों में भाषा की इकाई, उसका विभाग एवं अन्य विषयों का विवेचन नहीं हुआ है। इसके विपरीत व्याकरण-शास्त्र में प्रतिशाख्यों के अतिरिक्त ये विषय यत्र-तत्र प्रासंगिक रूप में ही गृहीत हुए हैं। अभिप्राय यह है कि वेदों से लेकर दर्शनों तक वाक् और भाषा के सम्बन्ध में नानाविधि-युक्त क्रम और विचार सम्मुख आये। परन्तु उनमें भाषा का दार्शनिक पक्ष समझकर उनपर विचार करने की प्रवृत्ति की उपेक्षा रहीं। वाक् एवं भाषा के विभिन्न पक्षों पर दार्शनिक रूप से विचार करने का प्रमुख श्रेय व्याडि तथा पतञ्जलि को ही प्रदान किया जाता है परन्तु व्याडि का 'संग्रह ग्रन्थ' नष्ट हो गया। पातञ्जल महाभाष्य अभी भी उपलब्ध होता है जिसमें पतञ्जलि ने सर्वप्रथम अपन से पूर्व ज्ञात शिक्षा, निरुक्त, व्याकरण और दर्शन के युक्तिक्रम को एकत्र किया तथा उन्हें व्याकरण-दर्शन का रूप प्रदान किया। उनकी दृष्टि से इसे हम शब्दानुशासन कह सकते हैं, व्याकरण-दर्शन के अध्ययन के क्षेत्र के अन्तर्गत वर्ण शब्द, पदार्थ, वाक्य, वाक्यार्थ स्फोट, शब्द-ब्रह्म आदि का विवेचन आता है। महाभाष्यकार ने वाक् एवं भाषा के इन सभी पक्षों पर दार्शनिक दृष्टि से विचार किया है। पूर्ववर्ती व्याडि और कात्यायन के मन्तव्यों पर भी पतञ्जलि ने विचार करके जिस स्वतंत्र चिन्तन पद्धति का प्रारम्भ किया, वह मौलिक चिन्तन की दिशा में एक समन्वित सामञ्जस्यपूर्ण प्रयास था। अपनी अद्वितीय मौलिकता के ही कारण महाभाष्य संस्कृत भाषा एवं व्याकरण-दर्शन का आकर ग्रन्थ है। अतएव व्याकरण-दर्शन की पृष्ठभूमि के रूप में महाभाष्य का अध्ययन अत्यन्त उपादेय है।

आचार्य पाणिनि के व्याकरण पर भाष्य रूप में व्याख्या करने वाले आचार्य पतञ्जलि का ग्रन्थ महाभाष्य, विषय, भाषा एवं शैली की दृष्टि से केवल व्याकरण

वाङ्मय में ही नहीं अपितु समस्त संस्कृत वाङ्मय में शीर्ष स्थान पर प्रतिष्ठित है। पतञ्जलि ने इस ग्रन्थ में अष्टाध्यायी के सूत्रों तथा उन पर लिखे गये व्याख्यात्मक एवं पूरक वार्तिकों का तात्त्विक विवेचन किया है। इसके साथ ही आवश्यकता के अनुसार यत्र-तत्र अपने इष्टिवाक्यों का भी समावेश किया है। समग्र महाभाष्य ८५ आह्निकों में विभक्त है। इसकी विश्लेषणात्मक एवं समीक्षात्मक शैली से यह बात सहज हो जाती है कि महाभाष्य की रचना, विषय- प्रतिपादनपद्धति एवं उसका आह्निक रूप में विभाजन सभी पूर्णतः स्वाभाविक है। क्योंकि यह ग्रन्थ अष्टाध्यायी का व्याख्यान ग्रन्थ है। अतः अध्याय एवं पादविभाग की योजना अष्टाध्यायी के अनुसार ही है। किंवदन्ती है कि, पतञ्जलि ने अपने शिष्यों को अष्टाध्यायी पढ़ाते हुए कुछ सूत्रों की विस्तृत समीक्षा की तथा बाद में उस समीक्षा को आह्निक रूप में लिखा। अभिप्राय यह है कि महाभाष्य के ८५ आह्निक उनके द्वारा अपने छात्रों को पढ़ाये गये ८५ दिन के पाठ हैं। आह्निक नाम ही उसका समर्थन करता है। पतञ्जलि ने अपने पूर्ववर्ती समग्र वैयाकरणों के ग्रन्थों तथा वैदिक और लौकिक प्रयोगों का गम्भीर अनुशीलन करने के पश्चात् ही महाभाष्य का उपदेश प्रारम्भ किया, यही कारण है कि व्याकरण का कोई भी विषय उनकी दृष्टि से बच नहीं पाया है। पतञ्जलि की समीक्षात्मक, निरूपणात्मक पद्धति सर्वथा मौलिक तथा न्याय की तर्कशैली पर आधारित है। यही कारण है कि पाणिनीय व्याकरण भाष्यकार की शैली द्वारा सूत्रों की व्याख्या मात्र न रहकर पूर्ण वैज्ञानिक बन गया तथा उसकी गणना विशिष्ट दर्शनों के रूप में प्रतिष्ठापित हुई। महाभाष्य की रचना का ही यह सुपरिणाम था कि पाणिनीय व्याकरण के अध्ययन और अध्यापन के प्रचार के समक्ष अन्य व्याकरणों की परम्परा अस्तप्राय हो गई।

पतञ्जलि ने पाणिनि के सूत्रों की कहीं-कहीं खण्डनात्मक समीक्षा की है, पुनरपि उनकी पाणिनि के प्रति असीम श्रद्धा विद्यमान थी। उन्होंने पाणिनि का स्मरण, भगवान्, आचार्य, मांगलिक, सुहृद् आदि विशेषणों के साथ किया है। उनका विश्वास था कि 'भगवान् पाणिनि ने पवित्र स्थान में बैठकर बड़ी शुद्धता और तन्मयता के साथ सूत्रों का प्रणयन किया है, इसलिए उसमें एक भी अक्षर अशुद्ध नहीं हो सकता, सूत्र की तो बात ही क्या? उनकी दृष्टि में अष्टाध्यायी के सूत्र छन्दोवत् प्रमाण हैं उन्होंने किसी भी प्रयोग को अन्यथा सिद्ध हो जाने पर भी 'सिद्धित्येवमपाणिनीयं तु भवति' कहकर उस विधि का परित्याग कर दिया है। इतना ही नहीं, पतञ्जलि ने सूत्रों द्वारा प्रत्यक्ष रूपेण न कही गई, किन्तु व्यञ्जित तथा सांकेतिक बातों को पाणिनि की इच्छा, शैली या आचार कहकर मान्यता प्रदान की है। पतञ्जलि ने यत्र-तत्र आचार्य के कौशल की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट किया है, तथा स्पष्ट किया है कि सूत्र रचना के अतिरिक्त इंगित चेष्टित और निमिषित तक से आचार्य का अभिप्राय जाना जा सकता है। इसी आधार पर कुछ विद्वानों को यह भ्रान्ति हो गई है कि पतञ्जलि कात्यायन के विरुद्ध पाणिनि के समर्थक थे। यह

बात उसी स्थिति में किसी सीमा तक संगत कही जा सकती है, जबकि मूलतः उन्होंने अपना भाष्य अष्टाध्यायी पर लिखा हो, तथा उस प्रसंग में उन्होंने कात्यायन के आक्षेप-परक वार्तिकों का खण्डन किया हो। आपततः स्थूल दृष्टि से ऐसा प्रतीत भी होता है। महाभाष्य में विभिन्न प्रसंगों में अष्टाध्यायी के लगभग समस्त सूत्र विद्यमान हैं, भले ही भाष्यकार ने उन सभी सूत्रों के विषय में साक्षात् कुछ न कहा हो। परन्तु वार्तिकों के विषय में ऐसा नहीं है। भाष्य में केवल उन्हीं वार्तिकों का समावेश है जिन पर भाष्यकार ने टिप्पणी आवश्यक समझी। पुनरपि विद्वानों की सामान्य धारणा है कि महाभाष्य वार्तिकों पर लिखा गया ग्रन्थ है। डॉ० कीलहार्न का भी यही मत है। डॉ० अग्निहोत्री का मत है कि भाष्यकार ने पाणिनि और कात्यायन दोनों पर एक साथ लिखा है। पं० युधिष्ठिर मीमांसक जी का मत है कि महाभाष्य में मुख्यतया कात्यायन के वार्तिकों का व्याख्यान है। डॉ० सत्यकाम वर्मा का मत है कि पातञ्जल-महाभाष्य मूलतः पाणिनि के व्याकरण का ही भाष्य है, यद्यपि उसमें अन्यों के वार्तिकों या विचारों को भी पूरे और उचित महत्त्व के साथ परखा गया है। डॉ० वर्मा का मत ही समीचीन प्रतीत होता है। पतञ्जलि ने चौदह प्रत्याहार सूत्रों को मिलाकर अष्टाध्यायी के कुल ३८८५ सूत्रों में से १६८६ सूत्रों पर भाष्य लिखा है, तथा शेष सूत्रों को बिना ननु न च किए ही स्वीकार किया है। उन्होंने इस भाष्य में व्याख्यात सूत्रों में से १२२८ सूत्रों पर केवल कात्यायन के वार्तिकों की समीक्षा की है, तथा २६ सूत्रों पर अन्य वार्तिककारों के भी प्राप्त वार्तिकों की समीक्षा की है। इसके अतिरिक्त ४३५ ऐसे सूत्रों पर भी भाष्य किया है, जिन पर किसी के भी वार्तिक उपलब्ध नहीं थे। इन सूत्रों पर भाष्यकार की समीक्षा पूर्णतः मौलिक है। भाष्यकार ने पाणिनि के १६ सूत्रों को अनावश्यक ठहराया है। पुनरपि भाष्यकार ने भाष्यस्थ अनेक सूत्रों में कात्यायन के अनेक आक्षेपों से पाणिनि की रक्षा का प्रयास किया है। उनकी दृष्टि पाणिनि के प्रति एक श्रद्धान्वित उपासक जैसी है, जो अपने उपास्य में पूर्ण आस्था रखता है। तभी तो उन्होंने कहा है कि मैं अपनी सामर्थ्य के आधार पर कह सकता हूँ कि इस शास्त्र में कुछ भी ऐसा नहीं जो कि निरर्थक है। उन्होंने जो सूत्र बनाये हैं वे बहुत सोच-विचार कर ही बनाये हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में कुल अध्यायों की संख्या आठ है। प्रथम अध्याय में प्राचीन भारत में व्याकरण के अध्ययन की परम्परा का दिग्दर्शन कराया गया है। जिसके अन्तर्गत ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक ग्रन्थ, उपनिषद् ग्रन्थ के साथ ही साथ प्रतिशाख्यों एवं शिक्षाग्रन्थों में प्राप्त व्याकरणिक तथ्यों का अनुशीलन किया गया है। साथ ही उत्तरपाणिनि युग के प्रक्रियाग्रन्थों एवं व्याख्याग्रन्थों का भी समावेश किया गया है।

द्वितीय अध्याय में महाभाष्य का सामान्य परिचय तथा उस पर उपलब्ध होने वाले टीका ग्रन्थों को विवेच्य विषय बनाया गया है। इसी अध्याय में महाभाष्य के रचयिता का सामान्य परिचय भी प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय अध्याय का वर्ण्य विषय है—'संस्कृतव्याकरण तथा उसका दार्शनिक आधार।' इसमें व्याकरण का वेदांगत्व उसके अध्ययन का प्रयोजन, भाषा तथा व्याकरण का सम्बन्ध भी विवेचित हैं।

चतुर्थ अध्याय में व्याकरण शास्त्र के विभिन्न रूप तथा उनका दार्शनिक आधार विवेचित हैं। नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात, अव्यय, कर्मप्रवचनीय आदि संज्ञाओं का गहन अनुशीलन करके उनके विषय में विशेष विचार भी इसी अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

पञ्चम अध्याय में 'महाभाष्य का भाषा दर्शन' विवेचित है। इसमें परा, पश्यन्ती, मध्यमा, बैखरी आदि का दार्शनिक विवरण प्रस्तुत किया गया है। महाभाष्य में वर्णित व्यक्त वाक् से सम्बन्धित मान्यताओं का विवेचन भी इसी अध्याय का वर्ण्य विषय बनाया गया है।

षष्ठ अध्याय में महाभाष्य के शब्द सम्बन्धी दार्शनिक मान्यताओं के सन्दर्भ में विभिन्न भारतीय दर्शनों के विचारों का वर्णन करते हुए उनकी मान्यताओं की समालोचना भी प्रस्तुत की गई है। व्याकरण-दर्शन की प्रसिद्ध शक्ति 'स्फोट' का स्वरूप तथा उसके सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों के विचार भी इसी अध्याय में प्रस्तुत हैं।

सप्तम अध्याय महाभाष्य की पद एवं अर्थ से सम्बन्धित दार्शनिक मान्यताओं का प्रस्तुतीकरण करता है। इसमें पद, पदार्थ के साथ ही प्रातिपदिकार्थ पर विभिन्न आचार्यों का मत तथा शब्दशक्ति से सम्बन्धित पतञ्जलि के मत का भी विचार किया गया है।

अन्तिम एवं आठवें अध्याय में महाभाष्य के अन्तर्गत प्राप्त वाक्यदर्शन, वाक्यार्थ दर्शन, वाक्यस्फोट का स्वरूप, शब्द-ब्रह्म विचार आदि का प्रस्तुतीकरण है।

●●●

प्राक्कथन

वेद पुरुष के छः अंग विद्वानों द्वारा अङ्गीकार किये गये हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष। 'मुखं व्याकरण स्मृतम्' के अनुसार दुर्भेद्य शास्त्रों के दुर्ग को भेदन करने के पहले उसका जो प्रथम द्वारा व्याकरण शास्त्र है उसे भेदना पड़ता है। जब दुर्ग का प्रथम द्वार खुल जाता है तो क्रमशः सभी द्वार स्वयं खुल जाते हैं अर्थात् व्याकरण शास्त्र के ज्ञान के साथ सभी शास्त्रों का ज्ञान सुलभता से प्राप्त हो जाता है। भाषा विचारों की अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम है। भाषा एवं विचारों के तारतम्य को बाँधने वाली विद्या का नाम व्याकरण है। व्याकरण एक शास्त्र है जिसका एक अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। संस्कृत व्याकरण की अपनी अलग विधा और चिन्तन का स्वतन्त्र संसार है। ऐसी महान् चिन्तन ध्येय विद्या वाली भाषा संसार के किसी भाषा-व्याकरण में देखने को नहीं मिलती। भारतीय वाङ्मय के अध्ययन से पता चलता है कि ब्रह्मा से लेकर इन्द्रादि देवताओं और ज्ञानी ऋषि, महर्षियों के समय तक व्याकरण की अनेक विधियाँ प्रकाश में आ चुकी थीं। गार्ग्य, गालब, शाकटायन, शाकल्य आदि भाषा-शास्त्रियों द्वारा प्रवर्तित होकर व्याकरण-शास्त्र की यह धरोहर पाणिनी, कात्यायन और पतंजलि के हाथों में आयी।

संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम्॥

महर्षि पतंजलि ने महाभाष्य की भूमिका भाग पश्पशाह्निक में स्पष्ट कहा है कि वेदों के ज्ञान के लिये व्याकरण पढ़ना चाहिये—'रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्।' व्याकरण के अध्ययन की परिपूर्णता के लिये 'त्रिमुनि व्याकरण' अर्थात् पाणिनीकृत अष्टाध्यायी, कात्यायनकृत वार्तिक तथा पतंजलिकृत महाभाष्य का अध्ययन आवश्यक है। इनमें से बिना महाभाष्य का अनुशीलन किये अन्य दोनों ग्रन्थों का सम्यक् ज्ञान सम्भव नहीं हो सकता। मैंने, व्याकरण का व्याख्याता होने के कारण व्याकरण के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ महाभाष्य पर पुस्तक लिखने की प्रेरणा आजमगढ़ महाविद्यालय के पूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष डॉ० विजय शंकर पाण्डेय एवं जगतपुर पी०जी० कॉलेज के पूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष डॉ० केशव प्रसाद पाठक से प्राप्त की।

मेरे अग्रज स्व० जगत नारायण उपाध्याय, श्री मुक्ति नारायण उपाध्याय के आशीर्वाद एवं मेरे अनुज डॉ० प्रभु नारायण उपाध्याय जी जो मेरे ही महाविद्यालय में व्याकरण के वरिष्ठ व्याख्याता है, उनके सहयोग से इस ग्रन्थ का लेखन कार्य सुगमता से

हो सका है। इस ग्रन्थ की परिपूर्णता के लिये मुझे रानी पद्मावती तारा योगतन्त्र आदर्श संस्कृत महाविद्यालय इन्द्रपुर, शिवपुर, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालयीय सरस्वती भवन पुस्तकालय एवं काशी हिन्दूविश्वविद्यालय के पुस्तकालय से पर्याप्त पुस्तकीय सहायता प्राप्त हुई है।

इस दुरुह कार्य की परिपूर्णता के लिये अदृश्य रूप से प्राप्त होने वाले आशीर्वाद मुझे अपने निर्धारित मार्ग पर निरन्तर बढ़ाते रहे हैं। इन आशीर्वादों के प्रदाता मेरे स्व० पिता उद्धव उपाध्याय एवं स्वर्गीया माता सिंहासन उपाध्याय की याद सम्बल बना सका है। इसके अतिरिक्त हमारे महाविद्यालय के प्राचार्य डॉ० वेदानन्द झा, सर्वदर्शन के एसोसिएट प्रोफेसर डॉ० प्रमोद कुमार पाठकं तथा ज्योतिष विषय के एसोसिएट प्रोफेसर डॉ० विजय कुमार पाण्डेय की प्रेरणा एवं सहयोग इस ग्रन्थ की पूर्णता में सम्बल बना है। मेरी धर्मपत्नी श्रीमती उर्मिला उपाध्याय का भी सहयोग एवं प्रेरणा मुझे इस ग्रन्थ की पूर्णता के लिये प्राप्त होता रहा है, इन्होंने मुझे गृह कार्यों से विरत रखकर ग्रन्थ की परिसमाप्ति की ओर अग्रसर करके ग्रन्थ को पूर्ण कराया है।

अन्त में सुधी विद्वानों के सम्मुख ग्रन्थ को प्रस्तुत करते हुए इसकी मानव सुलभ त्रुटियों के लिये क्षमा प्रार्थी हूँ।

विजयादशमी
2011

विदुषावंशवदः—

डॉ० लक्ष्मी नारायण उपाध्याय
वरिष्ठ व्याख्याता व्याकरण
रानी पद्मावती तारा योगतन्त्र आदर्श संस्कृत
महाविद्यालय, इन्द्रपुर, शिवपुर, वाराणसी

विस्तृत विषय-सूची

विषय		पृष्ठ संख्या
	भूमिका	३-१४
प्रथम अध्याय—	**(प्राचीन भारत में व्याकरण के अध्ययन की परम्परा)**	१-२४
	वैदिक युग (ब्राह्मण ग्रन्थ आरण्यक ग्रन्थ एवं उपनिषद् ग्रन्थ)-१, पूर्व पाणिनि युग (प्रातिशाख्य एवं शिक्षा ग्रन्थ)-३, उत्तर पाणिनि युग (प्रक्रिया ग्रन्थ एवं व्याख्या ग्रन्थ)-६, कात्यायन-८, व्याडि-१०, पतञ्जलि-१३, वामन ज्यादित्य-१५, भट्टोजिदीक्षित-१८, भर्तृहरि-१९, भट्टिकाव्य-२१, भागवृत्ति-२१, शतकत्रय-२१, मीमांसा-सूत्रवृत्ति-२२, वेदान्तसूत्रवृत्ति-२२।	
द्वितीय अध्याय—	**(महाभाष्य)**	२५-३७
	महाभाष्य का सामान्य परिचय-२५, महाभाष्य का रचनात्मक स्वरूप-२६, महाभाष्य का रचनाकाल-२८, महाभाष्य की टीकायें-३१, महाभाष्यदीपिका-३२, महाभाष्य प्रदीप तथा उद्योत-३२, शब्दकौस्तुभ-३३, अष्टाध्यायीभाष्यम्-३४, प्राणपणा-३४, चिन्तामणि-३४, सूक्तिरत्नाकर-३५, क्षीरोद-३५, भाष्यतत्त्वविवेक-३५, सिद्धान्तरत्नप्रकाश-३५, विद्वन्मुखभूषण-३५, अन्य टीका-ग्रन्थ-३६, महाभाष्य के रचयिता एवं उनका परिचय-३६।	
तृतीय अध्याय—	**(संस्कृत व्याकरण तथा उसका दार्शनिक आधार)**	३८-४४
	व्याकरण शास्त्र का वेदांगत्व-३८, व्याकरण के अध्ययन का प्रयोजन-३९, पाणिनिपूर्व वैयाकरण-३९, व्याकरण तथा भाषा का सम्बन्ध-४२।	
चतुर्थ अध्याय—	**(व्याकरण शास्त्र के विभिन्न रूप तथा उनका दार्शनिक आधार)**	४५-६८
	नाम पद का दार्शनिक आधार-४५, आख्यात पद का दार्शनिक आधार-४६, उपसर्ग पद का दार्शनिक आधार-४७, निपात एवं अव्यय पदों का दार्शनिक	

आधार-४९, कर्मप्रवचनीय का दार्शनिक आधार-५१, समासार्थ का दार्शनिक आधार-५२, कारकों का दार्शनिक आधार-५४, कर्त्ताकारक-५६, कर्मकारक-५७, करण कारक-६०, सम्प्रदानकारक ६२, अपादान कारक ६४, अधिकरण कारक-६५, सम्बन्ध-६७, सम्बोधन-६८।

पञ्चम अध्याय— (महाभाष्य का भाषा-दर्शन) ६९-८४

भाषा का स्वरूप-६९, वाक् तथा भाषा-७०, वाक् के भेद-(परा, पश्यन्ती, मध्यमा, बैखरी)-७३, बैखरी वाक्-७३, मध्यमा वाक्-७५, पश्यन्ती वाक्-७७, परावाक्-७८, महाभाष्य के व्यक्त वाक् सम्बन्धी मान्यतायें-८२।

षष्ठ अध्याय— (महाभाष्य की 'शब्द' सम्बन्धी दार्शनिक मान्यतायें) ८५-१०४

न्यायवैशेषिक मत-८५, योगदर्शन का मत-८६, पूर्व मीमांसकों का मत-८७, सांख्य दर्शनका मत-८७, बौद्धमत-८८, वैयाकरण मत-८९, स्फोट एवं ध्वनि विवेचन-९१, ध्वनि के प्रकार-९४, प्राकृत तथा वैकृतध्वनि का स्वरूप-९५, शब्दोत्पत्ति विषयक विभिन्न मत-९८, प्रतिशाख्यमत-९८, शिक्षाकारों का मत-९८, पतञ्जलि का मत-९९, भर्तृहरि का मत-९९, स्फोटवाद के प्रवर्तक-९९, स्फोट के विषय में विभिन्न आचार्यों के विचार-१००, आचार्य पाणिनि-१००, व्याडि-१००, पतञ्जलि-१०२, भर्तृहरि-१०३।

सप्तम अध्याय— (महाभाष्य की पद एवं अर्थ सम्बन्धी दार्शनिक मान्यतायें) १०५-१२६

पद का स्वरूप-१०५, पदार्थ का स्वरूप-१०८, पदार्थविषयक अन्य आचार्यों के मत-१०९, षोढ़ा प्रातिपदिकार्थ विचार-११४, पाणिनि का मत-११४, नैयायिक मत-११४, कौण्डभट्ट का मत-११४, पद एवं अर्थ से सम्बन्धित पतञ्जलि का सिद्धान्त-११६, अर्थ संकोच-११८, अर्थ विस्तार-११९, अर्थादेश-१२०, शब्दशक्ति सम्बन्धी पतञ्जलि का विचार-१२१, वृत्ति सम्बन्धी पतञ्जलि का सिद्धान्त-१२२, पतञ्जलि के मत में लक्षणा के कारण-१२३, तटस्थता-१२४, तद्धर्मता-१२४,

तत्समीपता-१२४, तत्साहचर्य-१२५, पतञ्जलि के मत में व्यञ्जनावृत्ति-१२५।

अष्टम अध्याय— (महाभाष्यगत वाक्यदर्शन) १२७-१३७

वाक्य सम्बन्धी पतञ्जलि के विचार-१२७, वाक्यार्थ बोध सम्बन्धी पतञ्जलि के विचार-१३०, पतञ्जलि के अनुसार वाक्यस्फोट का स्वरूप-१३२, वाक्यस्फोट एवं शब्द ब्रह्म का स्वरूप विचार-१३२।

उपसंहार १३८

●●●

प्रथम अध्याय

प्राचीन भारत में व्याकरण के अध्ययन की परम्परा

वैदिक युग

(ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक ग्रन्थ एवं उपनिषद् ग्रन्थ) :—

विश्व की अनेक भाषाओं का व्यवस्थित व्याकरण उपलब्ध होता है, जिनमें से संस्कृत भाषा का व्याकरण सर्वाधिक वैज्ञानिक एवं महत्त्वपूर्ण हैं। संस्कृत व्याकरण वेदांग की कोटि में आता है, अतः वेदांगों के अन्तर्गत होने के कारण इसका सम्बन्ध स्वतः ही वेदों से हो जाता है। पाणिनि से लेकर दयानन्द सरस्वती पर्यन्त समस्त भारतीय विद्वानों का मत है कि संसार में जितना ज्ञान प्राप्त हुआ है, उन सबका आदिमूल वेद हैं। इस सिद्धान्तानुसार व्याकरणशास्त्र का आदि मूल भी वेद हैं तथा व्याकरण के अध्ययन की परम्परा ऋग्वैदिक काल से प्रारम्भ हुई मानी जाती है। विश्व का सर्वप्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद है, जिसमें अनेक मन्त्र इस प्रकार के हैं जिनमें व्याकरण से सम्बन्धित तथ्य उपलब्ध होते हैं तथा वैदिक मन्त्रों में जो विशेष प्रकार की व्युत्पत्तियाँ है वे भी इस सिद्धान्त की पोषक हैं।[१] ऋग्वेद में कहा गया है कि वाणी के चार प्रकार के पद होते हैं तथा जो मनीषी ब्राह्मण हैं वे ही उन्हें जानते हैं। उनमें से तीन तो बुद्धिरूपी गुफा में निहित हैं और चौथा मनुष्यों के द्वारा बोला जाता है।

पतंजलि से बहुत प्राचीन आचार्य यास्क ने भी चत्वारि वाक्[२] मन्त्र की व्याकरण शास्त्रपरक व्याख्या लिखी हैं।[३] 'चत्वारि' वाक् पद को स्पष्ट करते हुए निरुक्तकार ने पद के नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात इन चार भेदों को स्वीकार किया है। कुछ आचार्य वाणी के चार रूपों परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी को ही 'चत्वारि वाक् परिमिता-पदानि' समझते हैं और इनमें से चौथी वाणी बैखरी को ही मनुष्य की भाषा के रूप में मान्यता देते हैं।[४] ऋग्वेद का एक अन्य मन्त्र जिनमें 'वाकेन् वाक् द्विपदा

---

१. (क) ऋग्वेद १६४/५०।
   (ख) यजुर्वेद १/२०।

२. ऋग्वेद १/१६४/४५।

३. नामख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः।
   निरूक्त १३/९।

४. निरुक्त अध्याय १३/२।

चतुष्पदाक्षरेण सप्तवाणी' मन्त्रांश का 'सप्तवाणी' पद भी भाषा से सम्बन्धित तथ्य को बतलाता हुआ प्रतीत होता है। सम्भवतः 'सप्तवाणी' पद सात प्रकार की विभक्तियों के लिए प्रयुक्त हुआ है।[१] सात विभक्तियाँ, तीन काल, तीन वचन, द्विपद चतुष्पद कल्पना आदि व्याकरण के अनेक सैद्धान्तिक आधार परोक्ष रूप से ही सही अनेक वैदिक मन्त्रों में प्रतिबिम्बित प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद संहिता के अन्य अनेक मन्त्रों में इन्द्र का सम्बन्ध वाक् के दोहन से तथा वरुण का सम्बन्ध अधिगत ज्ञान वाले व्यक्ति से बतलाया गया है। ऋग्वेद के दशम मण्डल का ७१वाँ सूक्त भी वाक् के विविध क्रियाकलापों के उल्लेख से भरा हुआ है, इसमें वाक् देवी ने स्वयं को साम्राज्ञी, धनों को एकत्र करने वाली और ज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ आदि रूपों में कहा है। अथर्ववेद में भी विश्वरूप धारण करने वाली वाक् का वर्णन मिलता है।[२] व्याकरण पद जिस धातु से निष्पन्न होता है, उसका मूल-अर्थ में प्रयोग यजु० १९/७७ में उपलब्ध होता है।[३] 'गोपथ-ब्राह्मण' में वेदांगों का नामोल्लेख मिलता है, जिनमें व्याकरण की गणना षड्वेदांगों में की गयी हैं।[४] इस ब्राह्मण ग्रन्थ में कुछ ऐसे तथ्य भी उपलब्ध होते हैं जिनमें व्याकरण-शास्त्र की प्राचीन परम्परा के साथ ही साथ पाणिनि-व्याकरण में प्रयुक्त अनेक पारिभाषिक संज्ञाएँ भी अतिप्राचीन सिद्ध होती हैं।[५] मैत्रायणी-संहिता तथा ऐतरेयब्राह्मण में विभक्ति के रूप में सप्तधा विभक्त वाणी का उल्लेख मिलता है।[६] इन उल्लेखों से न केवल व्याकरण-शास्त्र की परम्परागत प्राचीनता सिद्ध होती हैं अपितु 'पाणिनीय व्याकरण' में प्रयुक्त अनेक अन्वर्थ संज्ञाएँ भी अति प्राचीन प्रमाणित होती हैं।[७]

व्याकरण-शास्त्र के निर्माण की आवश्यकता के विषय में विद्वानों की धारणा है कि प्राचीनकाल में मन्त्रों को कण्ठस्थ करना होता था, इस प्रक्रिया में उच्चारण में भिन्नता तथा स्वरों के आरोहावरोह में विषमता आने लगी, इस विषमता को दूर करने तथा मन्त्रों की पवित्रता बनाये रखने के लिए कुछ भाषिक नियमों का निर्माण किया गया जिन्हें व्याकरण की संज्ञा दी गयी।

कालक्रम से समय के परिवर्तन के साथ ही साथ वैदिक शब्दों के उच्चारण आदि के विषय में प्रत्येक शाखा के लिए ऐसे सूत्रों की रचना हुई, जिन्हें प्रातिशाख्य कहा जाता है। यद्यपि प्रातिशाख्य तत्-तत् वेदों के चरणों से सम्बन्धित हैं तथापि उनमें मन्त्रों के संहितापाठ में होने वाले विकारों का प्रधानतया उल्लेख हैं। जिनमें

---

१. ऋग्वेद १/१६४/२४।
२. अथर्ववेद १/१/१।
३. दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
४. गोपथ ब्राह्मण १/२७।
५. गोपथ ब्राह्मण १/२४।
६. मैत्रायणी संहिता १/७/३३ तथा एतरेय ब्राह्मण ७/७।
७. गोपथ ब्राह्मण १/२४ (पू०)।

पदपाठस्थ मूल पदों के परिज्ञान में सुविधा होती है। इनमें पदपाठ एवं क्रमपाठ सम्बन्धी आवश्यक नियमों के निर्देश हैं। यास्क के मतानुसार संहिता के मूल पद-पाठ को आधार बनाकर सब चरणों के प्रातिशाख्यों की प्रवृत्ति हुई।[१] इन प्रातिशाख्य-ग्रन्थों में मन्त्रों की भाषा की रक्षा के साथ-साथ पदों की संविभाग प्रक्रिया भी वर्णित हैं, किन्तु इनमें केवल मन्त्रों के संहितापाठ में सम्भावित विकारों का ही निर्देश है, उनमें प्रकृति-प्रत्यय के द्वारा पदों की साधुता या असाधुता का निर्देश नहीं है। इन ग्रन्थों में व्याकरण के प्रवर्त्तक कम से कम ८५ आचार्यों का नामोल्लेख हुआ है।[२]

पूर्वपाणिनि-युग

(प्रातिशाख्य एवं शिक्षा ग्रन्थ) :—

सिद्ध वैदिक विद्वान् युधिष्ठिरमीमांसक और सत्यकाम वर्मा आदि विद्वानों द्वारा संगृहीत ऐतिहासिक सामग्री से पता चलता है कि पाणिनि से पूर्व भी अर्थात् वैदिक युग के उस काल तक अनेक वैयाकरण हुए, जिन्होंने अपनी-अपनी पद्धति से भाषा की व्याख्या की। इन आचार्यों के नियमों एवं इनके द्वारा निबद्ध रचनाओं से स्वयं पाणिनि भी परिचित थे। पाणिनि से पूर्व के आचार्यों में शिव, बृहस्पति, इन्द्र, वायु, भारद्वाज, भागुरि, पौष्कसादि, काशकृत्स्न, रौढ़ि चारायण, माध्यन्दिनी, गौतम, व्याडि आदि का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त होता है।[३] इन आचार्यों के अतिरिक्त निरुक्तकार ने औदुम्बरायण, औपमन्यव, वार्ष्यायणी, शाकपूणि आदि आचार्यों का नामोल्लेख किया है। आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी में आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, चाक्रवर्मण, गालव, शाकल्य, शाकटायन, शौनक, आचार्य स्फोटायन और भारद्वाज आदि का नामतः उल्लेख किया है तथा इनके अतिरिक्त 'अन्येषाम्', 'प्राचाम्' 'उदीचाम्', 'सर्वेषाम्' आदि के रूप में अनेक वैयाकरणों का संकेत भी किया है, जिससे पाणिनि से पूर्व भी व्याकरण-शास्त्रीय अध्ययन की परम्परा के स्पष्ट संकेत मिलते हैं।

अर्वाचीन ग्रन्थकार प्रधानतया आठ शाब्दिकों का उल्लेख करते हैं। हेमचन्द्र वृत्यचूर्णि में पृष्ठ ३ पर निम्न आठ वैयाकरणों का उल्लेख है—

ब्राह्मैशानमैन्द्रं च प्राजापत्यं बृहस्पतिम्।
त्वाष्ट्रमापिशलं चेति पाणिनीयमथाष्टमम्॥

इसमें आठ व्याकरण गिनाये गये हैं—ब्रह्म, ऐशान (=शैव), ऐन्द्र, प्राजापत्य, बार्हस्पत्य, त्वाष्ट्र, आपिशलि और पाणिनीय।[४]

---

१. पद प्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि। निरु० १/१७।
२. पं० युधिष्ठिर मीमांसक-संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास प्र०भा० पृ० ६७।
३. पं० युधिष्ठिर मीमांसक-संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास—प्रथम भाग, पृ० ६६।
४. पं० युधिष्ठिर मीमांसक संस्कृत व्याकरण शा० का इतिहास प्रथम भाग। पृ० सं० ७३।

१३वीं शताब्दी में वोपदेव ने कहा है कि ऐन्द्र, चान्द्र, काशकृत्स्न, आपिशलि, शाकटायन, पाणिनि, अमर एवं जैनेन्द्र ये आठ शाब्दिक विजयी हैं।[१] भास्कराचार्य के समसामयिक वर्धमान ने एक श्लोक में शालातुरीय, पाणिनि, शाकटायन, चान्द्रगोमि, दिग्वस्त्र (जैनेन्द्र) भर्तृहरि, वामन, भोज आदि की परिगणना की है।

पं० युधिष्टिर मीमांसक ने पाणिनि से पूर्व संस्कृत-व्याकरणशास्त्र के १६ ग्रन्थकारों का नामोल्लेख किया है, उनकी नामावली इस प्रकार है—कातन्त्रव्याकरण, चान्द्रगोमि, क्षपणक, देवानन्दी, वामन, पाल्यकिर्ती, शिवस्वामी, बुद्धिसागर, भोजदेव, भद्रेश्वर सूरि, हेमचन्द्र, क्रमदीश्वर, सारस्वत, रामाश्रयसिद्धान्त, चन्द्रिकाकार, वोपदेव और पद्मनाथ[२] आदि। महामुनि पाणिनि से लेकर स्वामी दयानन्द सरस्वती तक व्याकरण-शास्त्र की सुदीर्घ परम्परा के अतिरिक्त अपाणिनीय परम्परा भी अनवरत चलती रही। इस प्रकार के अनेक व्याकरण सम्प्रदाय मिलते हैं जो पाणिनि के पूर्व तत्कालीन प्रचलित व्याकरणों को उपजीव्य मानकर आगे बढ़े हैं और कतिपय ऐसी भी परम्परा रही है, जिन्होंने व्याकरण के सूत्रों में अथवा व्याख्या की प्रणाली में किंचित परिवर्तन लाकर अपने सिद्धान्तों को स्थापित किया है। कातन्त्र-व्याकरण, जैनेन्द्र-व्याकरण और सारस्वत-व्याकरण आदि के मूल सूत्र पाणिनि के पूर्ववर्ती व्याकरण-ग्रन्थों में खोजे जा सकते हैं। चान्द्र, सरस्वती-कण्ठाभरण तथा हेमचन्द्र व्याकरण का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में पाणिनि व्याकरण के साथ ही है। व्याकरण की लम्बी परम्परा में महेश्वर, बृहस्पति और इन्द्र के नाम बड़े आदर से लिये जाते हैं।

उद्यपि इनमें से किसी का व्याकरण-ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। वैदिक मन्त्रों की रक्षा के लिए पाणिनि से पूर्व ही प्रातिशाख्य ग्रन्थों एवं शिक्षा ग्रन्थों की रचना हुई। सभी वेदों से सम्बन्धित प्रातिशाख्य ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। प्रातिशाख्य शब्द का अर्थ है—

शाखां शाखां प्रति प्रतिशाखम् प्रतिशाखेषु भवं प्रातिशाख्यम्।

इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस ग्रन्थ में वेद की एक-एक शाखा के नियमों का वर्णन हो, वह ''प्रातिशाख्य'' कहलाता है, परंतु प्रातिशाख्यों के अध्ययन से विदित होता है कि इनमें किसी एक शाखा के ही नियमों का निर्देश नहीं है अपितु इनमें एक-एक चरण की सभी शाखाओं के नियमों का सामान्य रूप में उल्लेख है।

आचार्य शौनककृत ऋग्वेद प्रातिशाख्य की विष्णुमित्रकृत 'वर्गद्वय वृत्ति' में कहा गया है कि शिक्षा-ग्रन्थों, छन्दशास्त्र से सम्बन्धित ग्रन्थों एवं व्याकरण ग्रन्थों में जो

---

१. कल्पद्रुम। संस्कृत व्याकरण शास्त्र का संक्षिप्त इतिहास—पृ० ७ से उद्धृत।
२. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास प्रथम भाग।

सामान्य बातें कही गयी हैं वे ही वेद की इस शाखा में किस प्रकार से लागू होती है, यही प्रातिशाख्य-शास्त्र का प्रयोजन है।[१]

प्रातिशाख्य ग्रन्थों की रचना के सम्ब्ध में विद्वानों का मत है कि परिवर्तित होते समय के साथ ही साथ शब्दों के उच्चारण में भिन्नता आने लगी व्याकरण की इस विषमता के निराकरण हेतु विद्वानों ने महत्त्वपूर्ण कार्य किये, इसी क्रम में प्रातिशाख्य ग्रन्थों की रचना हुई।

इन प्रातिशाख्य ग्रन्थों में वेद की संहिता-विशेष की शाखा-विशेष में किस वर्ण का उच्चारण किस प्रकार से, किस स्थान से एवं किस प्रयत्न से करना चाहिये, इसका ध्वनि-वैज्ञानिक विवेचन है। साथ ही साथ प्रत्येक वेद से सम्बन्धित प्रातिशाख्य ग्रन्थ में संहिताओं का एवं उदात्त-अनुदात्त आदि स्वरों की स्थितियों का भी पर्याप्त वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त इन ग्रन्थों में मन्त्रों के संहिता-पाठ में होने वाले विकारों को दूर करने का भी निर्देश दिया गया है, किन्तु इनमें पदों की साधुता या असाधुता का निर्देश नहीं दिया गया है। इसके अतिरिक्त अन्य शिक्षा ग्रन्थ तथा वैदिक ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं, जिनमें संस्कृत भाषा की प्राचीनता सिद्ध होती है। इन प्रातिशाख्यों की संख्या विद्वानों के मतानुसार ८५ मानी गयी है।[२] इस समय अधोलिखित प्रातिशाख्य ग्रन्थ ही ज्ञात तथा उपलब्ध हैं—

१. ऋक्प्रातिशाख्य
२. शाश्वलायन प्रातिशाख्य
३. बाष्कल प्रातिशाख्य
४. शांखायन प्रातिशाख्य
५. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य
६. मैत्रायणीय प्रातिशाख्य
७. चारायणीय प्रातिशाख्य
८. साम प्राति० (पुष्प वा फुल्लसूत्र)
९. वाजसनेय प्रातिशाख्य
१०. अथर्व प्रातिशाख्य

इन प्रातिशाख्य ग्रन्थों में आचार्य शौनकृत ऋग्वेद प्रातिशाख्य सर्वप्रमुख माना जाता है। जिस पर उव्वट का प्रसिद्ध भाष्य मिलता है, इसमें कुल १८ पटल हैं जिसमें संज्ञा, सन्धि, उदात्त आदि स्वर, पद-पाठ, क्रम-पाठ, घन-पाठ, जटा-पाठ आदि अष्टविध पाठों के नियम, संयोगविषयक उच्चारणवैशिष्ट्य के साथ ही साथ सोलहवें पटल से लेकर अन्तिम १८वें पटल तक तीन पटलों में वैदिक छन्दों का विस्तृत विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ पर आचार्य विष्णुमित्र-रचित वर्गद्वयवृत्ति भी प्राप्त होती है, जिनमें अन्य प्रकीर्ण विषयों के साथ ही साथ ऋग्वेद की वर्णमाला भी प्राप्त होती है।

---

१. शिक्षा छन्दो व्याकरणैः सामान्येनोक्तलक्षणम्।
तदेवमिह शाखायाम् इति शास्त्रप्रयोजनम्॥

२. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास प्रथम भाग ६७।

यजुर्वेद से सम्बन्धित दो प्रातिशाख्य ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—शुक्ल-यजुर्वेद से सम्बन्धित 'वाजसनेय प्रातिशाख्य' तथा कृष्ण-यजुर्वेद से सम्बन्धित 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य।'

उत्तर पाणिनि युग

(प्रक्रिया ग्रन्थ एवं व्याख्या ग्रन्थ) :—

(कात्यायन, व्याडि, पतंजलि, वसुरात, वामन जयादित्य, भट्टोजिदीक्षित एवं भर्तृहरि)

संस्कृत व्याकरण शास्त्र की परम्परा में भाष्य प्रदीप के रचयिता कैयट के समय तक जो भी व्याकरणपरक रचनाएँ हुईं, वे सभी सूत्रकार, वृत्तिकार, वार्तिककार, पदकार तथा भाष्यकार आदि विविध आचार्य परम्पराओं की धारा के अन्तर्गत ही हुई।

एक समय ऐसा आया जब अष्टाध्यायी के आधार पर प्रक्रियानुसारी ग्रन्थों की रचना प्रारम्भ हुई। इन प्रक्रियाग्रन्थों में बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्तिकृत रूपावतार, अज्ञातकर्तृक प्रक्रियारत्न, रामचन्द्रकृत प्रक्रियाकौमुदी, भट्टोजिदीक्षितकृत सिद्धान्त-कौमुदी का अलग ही महत्त्व है। पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन-अध्यापन इसी के द्वारा होता है। आचार्य वरदराज ने प्रक्रिया-कौमुदी के आधार पर 'मध्यसिद्धान्त कौमुदी' तथा 'लघुसिद्धान्त कौमुदी' की रचना की है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेदांग प्रकाश नामक चौदह भागों में पाणिनीय सूत्रों की प्रयोगानुसारी व्याख्या हिन्दी में सम्पादित की है। ये प्रक्रिया परम्परा के अन्तिम ग्रन्थकार हैं, पाणिनीय सूत्रों की वृत्ति या व्याख्या करने वाले अनेक आचार्य हुए हैं, इनमें से कुछ आचार्य पाणिनि के कुछ ही समय बाद थे तथा कुछ पर्याप्त समय बाद में हुए; उन्होंने अष्टाध्यायी के सूत्रों का आधार लेकर सूत्रों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने कुछ प्राचीन वृत्तिकारों का नामोल्लेख किया है, जिनमें कुणि, स्वोभूति, माथुर, वररुचि आदि प्रमुख आचार्य हैं।[१] अर्वाचीन वृत्तिकारों में जयादित्य, वामन, विमलमति, भत्रीश्वर-भट्ट, जयन्त, केशव, इन्दुमित्र, मैत्रेयरक्षित, पुरुषोत्तमदेव, शरणदेव तथा कुछ अज्ञात आचार्यों का उल्लेख भी किया गया है।[२] इन ग्रन्थों पर अन्य टीकाएँ भी लिखी गयी हैं, जिनमें काशिकावृत्ति पर जिनेन्द्रबुद्धिकृत 'न्यास' महत्त्वपूर्ण है। न्यास पर भी अनेक विद्वानों ने भाष्यों की रचना की है। इस प्रकार भाष्य-ग्रन्थों में हरदत्तकृत पदमंजरी का प्रमुख स्थान है। वामन जयादिव्य की काशिका पर अन्य अनेक टीकाएँ भी कालान्तर में लिखी गयीं। स्वर्गीय पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु द्वारा 'अष्टाध्यायी भाष्यम्' नाम से अष्टाध्यायी पर संस्कृत तथा हिन्दी में वृत्ति लिखी

---

१. संस्कृत व्याकरण शा० का इतिहास प्रथम भाग पृ० ४२०, २२।

२. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास पृ० ४३४, ४६१।

गयी है। अष्टाध्यायी के वृत्तिकारों की संख्या तो बहुत अधिक है। पतंजलिकृत महाभाष्य पर भी व्याख्या लिखने वालों की एक लम्बी परम्परा प्राप्त होती है। 'संस्कृत-व्याकरण शास्त्र का इतिहास' नामक पुस्तक के प्रथम भाग में पं० युधिष्ठिर मीमांसक जी ने व्याकरण महाभाष्य के कुछ प्राचीन टीकाकारों का नामोल्लेख किया है जिनमें भर्तृहरि, नागेश, कैयट, शेषकृष्ण और भट्टोजिदीक्षित का नाम प्रमुख है। पं० युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार इन व्याख्याओं की एक लम्बी परम्परा है। स्वामी दयानन्द सरस्वती को भी महाभाष्य के अनुयायी व्याख्याकार के रूप में माना जाता है। इनके अतिरिक्त अनेक विद्वानों ने भी व्याकरण के अध्ययन को सरल से सरलतम बनाने के लिए व्याकरण से सम्बन्धित अन्य अनेक ग्रन्थों की रचना की है।

संस्कृत व्याकरण की परम्परा में प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भाष्य-प्रदीप' के रचयिता कैयट के समय तक जितने भी व्याकरण ग्रन्थ लिखे गये वे सभी ग्रन्थ सूत्र, वृत्ति, वार्तिक और भाष्यों की परम्पराओं से सम्बन्धित ही हैं। उसके बाद एक ऐसा समय आया जब विद्वानों का ध्यान शब्दों की रूपसिद्धि पर केन्द्रित हुआ इसके लिये अष्टाध्यायी से सूत्रों के आधार पर प्रक्रियानुसारी ग्रन्थों की रचना होने लगी। इस प्रकार के ग्रन्थों में बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति का रूपावतार, रामचन्द की 'प्रक्रिया कौमुदी', भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्त-कौमुदी, नारायण भट्ट का 'प्रक्रिया सर्वस्व' एवं किसी अज्ञात विद्वान् द्वारा लिखित 'प्रक्रिया-रत्न' मुख्य हैं। इन ग्रन्थों में संस्कृत भाषा के शिष्ट प्रयुक्त शब्दों को लेकर अष्टाध्यायी के सूत्रों के विधानानुसार उनकी सिद्धि करना अर्थात् उन्हें शुद्ध बतलाना ही लक्ष्य बनाया गया, जिनमें शब्दों की शुद्धता की जाँच-पड़ताल अष्टाध्यायी के सूत्रों के आधार पर किया जाने लगा। जाँच-पड़ताल करने पर यदि वे अष्टाध्यायी के सूत्रों पर खरे नहीं उतरते थे तो उन्हें अपशब्द कहकर संस्कृत के क्षेत्र से बाहर कर दिया जाता था। इन प्रक्रिया-ग्रन्थों में भट्टोजिदीक्षित कृत सिद्धान्त-कौमुदी का प्रचार एवं प्रभाव अद्यावधि सर्वाधिक हैं। आधुनिक युग में तो पाणिनीय-व्याकरण का अध्ययन एवं अध्यापन प्रक्रिया-ग्रन्थों के आधार पर ही हो रहा है। भट्टोजिदीक्षित के शिष्य कहे जाने वाले आचार्य वरदराज ने सिद्धान्त-कौमुदी को संक्षिप्त करके मध्य-सिद्धान्त कौमुदी की रचना की। जिसमें दो हजार से कुछ अधिक सूत्र समाहित किये गये हैं। कालान्तर में मध्य सिद्धान्त-कौमुदी को भी कुछ और संक्षिप्त करके लगभग तेरह सौ सतहत्तर सूत्रों से युक्त लघु-सिद्धान्त-कौमुदी की रचना भी वरदराज ने ही की।

सम्प्रति भारतवर्ष के प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में संस्कृत व्याकरण के प्रारम्भिक अध्ययन के लिए लघु-सिद्धान्त-कौमुदी का पठन-पाठन अनिवार्य रूप से हो गया है। कालान्तर में आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पाणिनीय सूत्रों की हिन्दी में प्रयोगानुसारी व्याख्या 'वेदांग-प्रकाश' नाम से चौदह

भागों में किया है। इन ग्रन्थों पर भी हिन्दी एवं संस्कृत के साथ ही आंग्ल भाषा में भी अनेक विद्वानों ने टीकाग्रन्थों की रचना की है। 'लघु-सिद्धान्त-कौमुदी' पर वैद्य भीमसेन शास्त्री की प्रसिद्ध 'भैमी व्याख्या' भैमी प्रकाशन दिल्ली से छः खण्डों में प्रकाशित हुई है। इसमें अष्टाध्यायी के सूत्रों को पदकृत्य करते हुए विस्तृत एवं सुस्पष्ट व्याख्या की गयी है। विषयों को और स्पष्ट करने के लिए अनेक ग्रन्थों से शब्दों को ढूँढ़-ढूँढ़कर उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[१]

कात्यायन :—व्याकरण के मुनित्रय में पाणिनि एवं पतंजलि के अतिरिक्त आचार्य कात्यायन का समावेश किया जाता है। इन्होंने व्याकरण के प्राकृत स्वरूप का परिष्कार तो किया ही, साथ ही व्याकरण के दार्शनिक रूप का भी अद्वितीय रूप से विकास किया है। इन्होंने एक निष्पक्ष आलोचक की दृष्टि से अष्टाध्यायी के सारे सूत्रों का अनुशीलन किया है और उन शंकाओं को दृष्टि में रखते हुए, जो पाणिनि के सूत्रों पर उठायी गयी थी या उठायी जा सकती थी, प्रयत्नपूर्वक उनके परिहार का प्रयास किया है। इनका प्रथम वार्तिक ''सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे'' एक ओर तो इनके दार्शनिक चिन्तन को प्रतिपादित करता है, तो दूसरी ओर एक वाक्य में समग्र व्याकरण दर्शन है। कात्यायन की रचना-रूप में अष्टाध्यायी के सूत्रों के ऊपर लिखा गया वह वार्तिक-पाठ ही है, जिसमें वार्तिकों की संख्या लगभग २५०० हैं। कात्यायन के वार्तिकों की शैली बहुत सीमा तक पाणिनीय सूत्रों के समान होते हुए भी कुछ भिन्न हैं और इसके मूल में एक प्रधान कारण यह है कि यह वार्तिक-पाठ पाणिनि के सूत्रों में उक्त, अनुक्त और दुरुक्त की चिन्तना को लेकर चलता है। वार्तिक का लक्षण ही है—

उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
तं ग्रन्थं वार्त्तिकं प्राहुर्वार्त्तिकज्ञा मनीषिणः॥

इस चिन्तन में जब वे किसी सूत्र में कुछ अंश बढ़ाने की ओर इंगित करते हैं तो इन्हें 'उपसंख्यानम्', 'इति वक्तव्यम्' या इसी प्रकार का कुछ अंश अपने वक्तव्य के साथ और जोड़ना पड़ता है। कात्यायन का वार्तिक पाठ पाणिनीय व्याकरण का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। इसके बिना पाणिनीय व्याकरण अधूरा रहता है।

पतंजलि ने कात्यायनीय वार्तिकों के आधार पर अपने महाभाष्य की रचना की है। कात्यायन का वार्तिक-पाठ स्वतन्त्र रूप में सम्प्रति उपलब्ध नहीं होता है। कात्यायन के देश तथा काल के विषय में स्पष्ट कुछ भी ज्ञात नहीं होता है। कथासरित्सागर में वार्तिककार कात्यायन को कौशाम्बी का निवासी लिखा गया है।[२] वह प्रमाणभूत पतंजलि के वचन से विरुद्ध होने के कारण अप्रमाण है। सम्भव है उत्तरकालीन वररुचि कात्यायन कौशाम्बी का निवासी रहा हो। नाम सादृश्य से

१. द्रष्टव्य लघु-सिद्धान्त-कौमुदी भैमी व्याख्या।
२. द्रष्टव्य-२/३ तथा ४।

कथासरित्सागर के निर्देश में भूल हुई होगी। स्कन्दपुराण के अनुसार याज्ञवल्क्य का आश्रय आनर्त गुजरात में था।[१] सम्भव है याज्ञवल्क्य के मिथिला चले जाने पर उसका पुत्र कात्यायन महाराष्ट्र की ओर चला गया हो और उसका पौत्र वार्तिककार वररुचि कात्यायन दक्षिण में ही रहता रहा हो।

वार्तिककार के दक्षिणात्य होने में एक अन्य प्रमाण भी है। पाणिनीय सूत्रपाठ, धातुपाठ और उणादिपाठों के प्रकरण में लिखा है कि इन ग्रन्थों के दाक्षिणात्य, औदीच्य और प्राच्य तीन प्रकार के पाठ थे। इनमें प्रथम दो पाठ लघुपाठ हैं और प्राच्य पाठ वृद्धपाठ है। कात्यायनीय वार्तिक अष्टाध्यायी के लघुपाठ पर ही लिखे गये हैं, यह वार्तिकपाठ की पाणिनीय सूत्रपाठ के लघु वृद्ध पाठों की तुलना से स्पष्ट है। यद्यपि दक्षिणात्य और औदीच्य दोनों पाठ लघु है तथापि दोनो में कुछ अन्तर भी है। वार्तिकपाठ को अष्टाध्यायी के लघुपाठ पर आश्रित होने से भी वार्तिककार का दक्षिणात्यत्व सुतरां सिद्ध है।

कात्यायन तथा वररुचि इत्यादि नाम भी भिन्न-भिन्न देश तथा कालों में हुए अनेक व्यक्तियों के पाये जाते हैं। यह बात भी कात्यायन के देश, काल के निर्णय में बड़ा अन्तराय है। शुक्लयजुर्वेद श्रौतसूत्र के रचयिता एक कात्यायन हुए हैं, जिनके अतिप्राचीन होने की सम्भावना की जाती है। शुक्लयजुर्वेद प्रातिशाख्य के प्रणेता एक कात्यायन हुए हैं। पाणिनि के सूत्रों पर वार्तिक बनाने वाले भी कात्यायननामा ही हैं, तो इनमें कौन-कौन कात्यायन एक एवं कौन-कौन भिन्न है यह एक जटिल प्रश्न हैं। इसी प्रकार कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में वररुचि नामक एक व्यक्ति को राज्यनीति के आचार्य के रूप में स्मरण किया है और एक अन्य वररुचि विक्रम की सभा के नवरत्नों में स्मृत किये जाते हैं। वहाँ वररुचिकृत एक ही काव्य का भी उल्लेख है। ये दोनों एक हैं या भिन्न यह भी दृढ़ता के साथ नहीं कहा जा सकता। यहाँ इतना ही कहना समीचीन होगा कि पूर्वोल्लिखित कथासरित्सागर के अनुसार पाणिनि और कात्यायन का समकालिक होना, उनका परस्पर विद्वेष और शास्त्रार्थादि जो कुछ उपनिबद्ध है, वह प्रायः काल्पनिक प्रतीत होता है।

कात्यायन और पाणिनि के कालों में व्यवधान होना चाहिये, ऐसा अनुमान उक्त रीति के आधार पर किया जाता है। कथासरित्सागर में जो कात्यायन को कौशाम्बी का निवासी बताया गया है तथा ऐतिहासिक कौशाम्बी को प्रयाग के समीप सम्भावित किया गया है यह भी कुछ अयुक्तियुक्त ही लगता है। महाभाष्यकार आचार्य पतंजलि वार्तिककार के विषय में 'प्रियतद्धिताः दक्षिणात्याः' कहते हैं। उनका कहना है कि 'यथा लोके वेदे च' प्रयोग करने के स्थान पर 'यथा लौकिकवैदिकेषु', का प्रयोग किया है—इत्यादि कथन के प्रमाण से कात्यायन का दक्षिण देश का निवासी होना

१. नागर खण्ड १७४/५५।

दृढ़तर हो जाता है। यदि वर्तिककार कात्यायन याज्ञवल्क्य के पौत्र हों तो वार्तिककार को पाणिनि से कुछ उत्तरवर्ती होना चाहिये। यदि वह पाणिनि के साक्षात् शिष्य हों तो उन्हें पाणिनि का समकालिक होना चाहिये। अत: वार्तिककार कात्यायन का काल विक्रम से लगभग २९००-३००० वर्ष पूर्व स्वीकार किया जा सकता है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में जो राजनीति के आचार्य गिनाये गये हैं, उनमें गिनाये हुए आचार्य वररुचि ही कात्यायन (वार्तिककार) प्रतीत होते हैं। कात्यायन का दूसरा नाम वररुचि प्रसिद्ध ही है तथा वररुचि कौटिल्य से पूर्व में हुए हैं। भाष्यकार पतंजलि तथा कात्यायन के काल में कम से कम चार या पाँच शताब्दी का अन्तर होना चाहिये, यह निश्चित है। कुछ आचार्यों का यह भी मत है कि व्याडि कात्यायन का पर्यायवाची नाम है और व्याडि ने पाणिनि के ऊपर 'संग्रह' नामक व्याख्याग्रन्थ बनाया था। यदि यह सब ठीक है तो भी कात्यायन को पश्चाद्वर्ती होना चाहिये। अत: कात्यायन का काल ईसा पूर्व ५वीं शताब्दी समीचीन लगता है।

कात्यायन एक बड़े प्रतिभाशाली विचारक एवं आचार्य हुए हैं। उनके वैदुष्य का एक पुष्ट प्रमाण यही है कि पतंजलि के महाभाष्य जैसी ललित एवं तर्क-पूर्ण व्याख्या का मूल बीज कात्यायन के वार्तिकों में ही निहित है। पतंजलि प्रत्यक्षत: कात्यायन के वार्तिकों का ही भाष्य करते हैं, यह ठीक है कि ऐसा करने में अप्रत्यक्ष या मुख्य कार्य अष्टाध्यायी का भाष्य करना है। पतंजलि मात्र व्याख्याकार या भाष्यकार नहीं रह सके, वे उस व्यक्ति के अनुयायी और अनुकर्त्ता बन गये, जिसकी रचना के वे भाष्यकार रहे थे। इसी कारण वे सूत्र जिन पर कात्यायन ने कोई वार्तिक आदि नहीं लिखा था, उन्होंने कात्यायनीय पद्धति से विचार किया और उक्तानुक्तदुरुक्त चिन्तन की शैली का पूर्णानुगमन करके स्वयं वार्तिकों की रचना की।

व्याडि :—व्याडि ने व्याकरण शास्त्र तथा व्याकरण-दर्शन सम्बन्धी सिद्धान्तों का वर्णन 'संग्रह' ग्रन्थ में किया है। वह ग्रन्थ पाणिनि व्याकरण पर था; ऐसी पाणिनीय वैयाकरणों की धारणा है।[१] पतंजलि ने महाभाष्य के प्रारम्भ में 'संग्रह' का उल्लेख किया है,[२] संग्रह पद पाणिनीय गणपाठ ४/४/६० में उपलब्ध होता है। 'संग्रहपाठ' शब्द का अर्थ है—संक्षिप्त वचन। चरक में पठनीय ग्रन्थों के गुणों का वर्णन करते हुए ससंग्रहम् विशेषण दिया है। महाभाष्य २/३/६६ में लिखा है—

शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृति:।

---

१. संग्रहोऽप्यस्यैव शास्त्रस्यैकदेश:। महाभाष्यदीपिका भर्तृहरिकृत, पूना सं० पृष्ठ २३। इह पुरा पाणिनीयेऽस्मिन् व्याकरणे व्याड्युपरचितं लक्षग्रन्थपरिमाणं संग्रहाभिधानं निबन्धमासीत् पुण्यराजकृत वाक्यपदीय टीका, काशी संस्क० ३८३।

२. संग्रह एतत् प्राधान्येन परीक्षितम्। .... संग्रहे तावत् कार्यप्रतिद्वन्द्विभावान्मन्यामये ....। महाभाष्य आ० १, पाद० १, आ १।

अर्थात् दाक्षायणविरचित संग्रह की कृति मनोहर है।

महाभाष्यकार जैसा विवेचनात्मक बुद्धि रखने वाला व्यक्ति जिस कृति को सुन्दर मानता हो, उसकी प्रामाणिकता और उत्कृष्टता में क्या सन्देह हो सकता है? नागेश का कथन है कि यह ग्रन्थ एक लाख[१] श्लोकों से युक्त था। भर्तृहरि तथा उनके टीकाकार पुण्यराज ने करुणापूर्ण शब्दों में लिखा है कि 'व्याडि का बनाया एक लाख श्लोकों का संग्रह नामक ग्रन्थ था, खेद का विषय है कि वैयाकरणों की उपेक्षा दृष्टि, अध्यवसायहीनता, पल्लवग्राहिपाण्डित्य की प्रवृत्ति के कारण वह ग्रन्थ संसार से लुप्त हो गया।'[२] इसके लुप्त होने के कारण ही इसका क्या स्वरूप था, यह हम नहीं कह सकते। इसके जो उद्धरण उपलब्ध हुए हैं, उनके अनुसार इस विषय में कुछ लिखा जाता है—

चान्द्र व्याकरण ४/२/६२ की वृत्ति में एक उदाहरण है—पञ्चकः संग्रहः। इसकी 'अष्टकं पाणिनीयम्' उदाहरण से तुलना करने पर विदित होता है कि संग्रह में पाँच अध्याय थे।

वाक्यपदीय के टीकाकार पुण्यराज लिखते हैं—

इह पुरा पाणिनयेऽस्मिन् व्याकरणे व्याड्युपरचितं लक्षग्रन्थपरिमाणं संग्रहाभिधानं निबन्धमासीत्।[३]

महाभाष्य ४/२/६० में एक उदाहरण है—'सांग्रह सूत्रिकः।' इससे प्रतीत होता है कि संग्रह ग्रन्थ सूत्रात्मक था। इन उद्धरणों से तथा भर्तृहरिकृत वाक्यपदीय की स्वोपज्ञ टीका से उद्धृत संग्रह के पाठों से विदित होता हैं कि 'संग्रह' वाक्यपदीय के समान प्रधानतया व्याकरण का दार्शनिक ग्रन्थ था।

संग्रह ग्रन्थ किसी समय अत्यन्त प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा जाता था। काशिका ६/२/६९ के 'कुमारीदाक्षाः' उदाहरण से व्यक्त होता है कि अनेक व्यक्ति कुमारी (विवाह) के लिए झूठमूठ अपने को दाक्षि-प्रोक्त ग्रन्थ के ज्ञाता बताया करते थे। काशिकाकार ने इस उदाहरण की जो व्याख्या की है, वह चिन्त्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने इस उदाहरण का भाव नहीं समझा। सूत्रस्थ उदाहरणों को 'दाक्षादिभिः प्रोक्तानि शास्त्राण्यधीयते' व्याख्या में 'दाक्षादिभिः' पाठ अशुद्ध है, वहाँ 'दाक्ष्यादिभिः' पाठ होना चाहिये।

संग्रह ग्रन्थ की प्रौढ़ता का अनुमान पतंजलि के द्वारा निर्दिष्ट निम्नलिखित श्लोक से भी होता है—

---

१. उद्धृत महाभाष्य आ० १।

२. (क) वाक्यपदीय, २, ४, ८।

३. वाक्यपदीय टीका, काशी संस्क० पृ० २८३।

किरतिं चर्करीतान्तं पचतीत्यत्र यो भवेत्।
प्राप्तिज्ञं तमहं मन्ये प्रारब्धस्तेन संग्रहः ॥[१]

संग्रह के उद्धरण अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। भर्तृहरि-विरचित वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड की स्वोपज्ञ टीका में संग्रह के १० वचन उद्धृत हैं। श्री पं० चारुदेव जी ने स्वसम्पादित वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड के अन्त में उन्हें संग्रहीत कर दिया है। महाराज समुद्रगुप्त ने अपने कृष्णचरित की प्रस्तावना के अन्तर्गत मुनिकवि वर्णन में लिखा है—

रसाचार्य कविरूसाडिः शब्दब्रह्मैकवाङ्मुनिः।
दाक्षीपुत्र वचनो व्याख्यापमुर्मीमांसाकाग्रणीः ॥
बालचरितं कृत्वा यो जिगाय भारतं व्यासं च।
महाकाव्यविनिर्माणे तन्मार्गस्य प्रदीपमिव।

इन श्लोकों से विदित होता है कि संग्रहकार व्याडि दाक्षीपुत्र वचन (अष्टाध्यायी) का व्याख्याता, रसाचार्य और श्रेष्ठ मीमांसक थे। उनका बलरामचरित 'भारत' से भी महान् था। कृष्णचरित में व्याडि को 'मीमांसाकाग्रणिः' लिखा है। अतः सम्भव है कि व्याडि ने मीमांसाशास्त्र पर भी कोई ग्रन्थ लिखा हो। वाग्भट्ट ने 'रसरत्नसमुच्चय' के आरम्भ में प्राचीन रसाचार्यों में व्याडि का उल्लेख किया है।[२]

महाभाष्य १/२/६४ में व्याडि को द्रव्यपदार्थवादी लिखा है।[३] इससे स्पष्ट है कि व्याडि 'द्रव्यपदार्थवादी मीमांसक' रहे होंगे।

नागेशकृत भाष्यप्रदीपोद्योत ४/३/३९ में लिखा है—

एवम् च संग्रहादिषु तदुदाहरणदानमसंगतं स्यात्।

इससे प्रतीत होता है कि संग्रह में कहीं-कहीं अष्टाध्यायी के सूत्रों के उदाहरण भी दिये गये थे। यह भी सम्भव हो सकता है कि व्याडि ने अष्टाध्यायी की कोई व्याख्या लिखी हो। इसकी पुष्टि कृष्णचरित के पूर्व उद्धृत श्लोक के दाक्षीपुत्र वचनोव्याख्यापटुः पद से भी होती है।

महाभाष्य के 'संग्रहे तावत् प्राधान्येन परीक्षितम्' इस वचन की व्याख्या में भर्तृहरि ने लिखा है कि—संग्रह में १४ सहस्त्र पदार्थों की परीक्षा की थी। यदि भर्तृहरि का यह वचन सत्य हो तो संग्रह का एक लाख श्लोक परिमाण अवश्य रहा होगा।

---

१. महा० ७/४/९२ कैयट ने पतंजलि के भाव को सम्भवतः न समझकर संग्रह शब्द का अर्थ 'साधुशब्दराशिः' लिखा है।

२. इन्द्रदो गोमुखश्चैव काम्बलि० र्याडिखे च॥

३. द्रव्याभिधानं व्याडिः।

इसके अतिरिक्त व्याडि की रचनाओं का विवरण इस प्रकार है—

१. व्याडि ने किसी परिभाषा पाठ का प्रवचन किया था, इसके अनेक प्रमाण विभिन्न ग्रन्थों में मिलते हैं। कई एक परिभाषापाठ के हस्तलेख व्याडि के नाम से निर्दिष्ट विभिन्न पुस्तकालयों में विद्यमान हैं।

२. व्याडिकृत लिंगानुशासन का उल्लेख वामन[1], हर्षवर्धन[2] तथा हेमचन्द्र[3] के लिंगानुशासनों में मिलता है।

३. विकृति वल्ली संज्ञक ऋग्वेद का एक 'परिशिष्ट' उपलब्ध होता है, वह आचार्य व्याडिकृत माना जाता है।

४. व्याडि के कोश के उद्धरण कोशग्रन्थों की अनेक टीकाओं में उपलब्ध होते हैं। यह कोश विक्रम-समकालिक अर्वाचीन व्याडि का बनाया हुआ है।

पतंजलि :—महामुनि पतंजलि ने पाणिनीय व्याकरण पर एक महती व्याख्या लिखी है।[4] यह संस्कृत वाङ्मय में महाभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में भगवान् पतंजलि ने व्याकरण जैसे दुरूह और शुष्क समझे जाने वाले विषय को जिस सरल और सरस रूप से हृदयंगम कराया है, वह देखते ही बनता है। यह ग्रन्थ न केवल व्याकरण सम्प्रदाय में, अपितु सकल संस्कृत वाङ्मय में अपने ढंग का एक अद्भुत ग्रन्थ है। पतंजलि ने व्याकरण दर्शन को अक्षुण्ण रखने के लिए करुणभाव से प्रेरित होकर दार्शनिक सिद्धान्तों एवं न्याय बीजों का अपने महाभाष्य में समावेश किया है।[5]

कात्यायन एवं अन्य वार्तिककारों के वार्तिकों में जो कुछ है, वह तो महाभाष्य में विद्यमान है। पुण्यराज ने कहा है कि महाभाष्य में अनेक विद्यावाद तथा दर्शन प्रवाह हैं।[6] पतंजलि ने जो कुछ भी कहा है वह सूत्र और वार्तिकों के माध्यम से भाष्य के रूप में कहा है। जहाँ सूत्रकार तथा वार्तिकार से पतंजलि का मतवैषम्य है, वहाँ मौलिक विचार महाभाष्यकार के हैं।

महाभाष्य व्याकरणशास्त्र का अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है। क्या प्राचीन क्या नवीन सभी वैयाकरण इसके सम्मुख नतमस्तक हैं। पतंजलि के काल में पाणिनीय और अन्य प्राचीन व्याकरण ग्रन्थों की महती ग्रन्थराशि विद्यमान थी। पतंजलि ने

---

१. यद् व्याडिप्रमुखैः, पृष्ठ १, २। व्याडिप्रणीतमथ, पृष्ठ २०।

२. व्याडेः शंकरचन्द्रयोर्वररूचेर्विद्यानिधेः पाणिनेः। कारिका ९७।

३. हैम लिंगानुशासन विवरण, पृष्ठ १०३।

४. पतंजलि-सांख्यमहाध्यात्मशास्त्रकर्त्ता। हैमबृहद्वृत्त्यवधूणि पृष्ठ ३१।

५. (क) वाक्यपदीय, २/४८५।
(ख) तच्च भाष्यं न केवलं व्याकरणस्य निबन्धनम् यावत् सर्वेणां न्यायजीबानां बोद्धव्यमित्यत एव महन्त् शब्देन विशिष्य महाभाष्यमियुच्यते लोके। पुण्यराज, वहीं पर।

६. महाभाष्ये हि बहुविधिविद्यावादबलमार्षं व्यवस्थितम्। पुण्य० वा०प० २.४८८ पर।

व्याख्यानमिष से महाभाष्य में उन सभी ग्रन्थों का सारसंग्रह कर दिया है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय (२/४८६) में लिखा है—

कृतेऽथ पतज्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने॥

इस लेख से स्पष्ट है कि पातंजल महाभाष्य बहुत प्राचीन ग्रन्थ है। इतने सुदीर्घ काल में महाभाष्य के पठन-पाठन का अनेक बार उच्छेद हुआ है।

महाभाष्य का वर्तमान में जो पाठ मिलता है, उसके प्रधान परिष्कारक हैं— आचार्य चन्द्रगोमि। कश्मीराधिपति महाराज अभिमन्यु के पूर्व महाभाष्य का न केवल पठन-पाठन ही लुप्त हो गया था, अपितु उसके हस्तलेख भी नष्ट प्राय हो चुके थे। चन्द्राचार्य ने महान् प्रयत्न करके दक्षिण के किसी पार्वत्य प्रदेश में उसका एकमात्र हस्तलेख प्राप्त किया था। महाभाष्य में जो पूर्व-निर्दिष्ट प्रसंग आये हैं वे परिष्कर्त्ता चन्द्राचार्य द्वारा सन्निविष्ट हुए हैं।

विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों में पतंजलि को गोनर्दीय, गोणिका-पुत्र, नागनाथ, अहिपति, फणिभृत्, शेषराज, शेषाहि, चूर्णिकार और पदकार आदि नामों से स्मरण किया जाता है।

यादवप्रकाश आदि कोषकारों ने गोनर्दीय नाम को पतंजलि का पर्याय लिखा है। इसके अतिरिक्त भर्तृहरि[१], कैयट[२], राजशेखर[३] आदि ग्रन्थकार गोनर्दीय शब्द को पतंजलि का नामान्तर मानते हैं। 'वात्स्यायन'-कामसूत्र में गोनर्दीय आचार्य का उल्लेख बहुधा मिलता है। गोनर्दीय नाम देशनिमित्तक है। इससे प्रतीत होता है कि गोनर्दीय आचार्य पतंजलि का नामान्तर है। इसका वास्तविक नाम अज्ञात है। उत्तर प्रदेश का वर्तमान गोंडा जिला सम्भवतः प्राचीन गोनर्द है। काशिका १/१/७५ में गोनर्द को कश्मीर में मानते हैं। राजतरंगिणी नामक ऐतिहासिक ग्रन्थ में गोनर्द नामक कश्मीरी तीन राजाओं का उल्लेख है। सम्भव है उनके समय में कश्मीर का भी कोई प्रान्त गोनर्द नाम से प्रसिद्ध रहा हो। ऐसी अवस्था में गोनर्द नाम के दो देश मानते होंगे।

गोनर्दीय शब्द में विद्यमान तद्धित प्रत्यय से स्पष्ट है कि गोनर्दीय आचार्य प्राच्य गोनर्द देश का था।[४] महाभाष्य १/४/५१ में गोणिका पुत्र का एक मत निर्दिष्ट है।[५] इस

---

१. गोनर्दीयस्त्वाह ...... तस्मादेतद् भाष्याकारों व्यचक्षति (? व्याचष्टे) सूत्रमिति। भाष्यदीपिका १/१/२१।

२. भाष्यकारस्त्वाह प्रदीप १/१/२। गोनर्दीय पदं व्याचष्टे-भाष्यकार इति। उद्योत १/१/२१।

३. यस्तु प्रयुङ्क्ते ...... तत्प्रमाणमेवेति गोनर्दीयः। काव्यमीमांसा, पृष्ठ २६।

४. गोनर्द शब्द की 'एङ् प्राचां देशे' (१/१/७५) सूत्र से वृद्ध संज्ञा होने पर ही 'वृद्धाच्छः (४/२/११४) से 'छ' प्रत्यय सम्भव है।' जिसके फलस्वरूप गोनर्दीय शब्द बनता है।

५. उभयथा गोणिकापुत्र इति।

पर नागेश ने लिखा है—गोणिका पुत्रो भाष्यकार इत्याहु:। 'आहु:' पद से प्रतीत होता है कि नागेश को यह मत अभीष्ट नहीं है। वात्स्यायन कामसूत्र में गोणिकापुत्र का भी उल्लेख मिलता है। कोशकार पतंजलि के पर्यायों में इस नाम को नहीं पढ़ते। अत: यह निश्चय ही महाभाष्यकार से भिन्न व्यक्ति है। महाभाष्य ३/२/११४ में 'अभिजानासि देवदत्त कश्मीरान् गमिष्याम:, तत्र सक्तून पास्याम:' इत्यादि उदाहरणों में असकृत् कश्मीर गमन का उल्लेख मिलता है। इस उदाहरण के आधार पर कतिपय विद्वानों का मत है कि पतंजलि की जन्मभूमि कश्मीर थी, किन्तु महाभाष्य ३/२/१२३ के अनुसार पतंजलि अधिकतर पाटलिपुत्र में निवास करते थे। महाभाष्य में दिये गये विभिन्न उदाहरणों से व्यक्त होता है कि पतंजलि मथुरा, कौशाम्बी, साकेत और पाटलिपुत्र आदि से भलीभाँति परिचित थे। इन सभी मतों से पतंजलि की जन्मभूमि भ्रामक प्रतीत होती है, किन्तु कश्मीर के राजा अभिमन्यु और जयापीड द्वारा महाभाष्य का पुन: पुन: उद्धार कराना व्यक्त करता है कि पतंजलि का कश्मीर से कोई विशिष्ट सम्बन्ध अवश्य था।

आचार्य पतंजलि शुंगवंशीय महाराजा पुष्यमित्र के समकालीन बताये जाते हैं। पुष्यमित्र का शासनकाल भारतीय इतिहास में द्वितीय शताब्दी ई०पू० माना जाता है। पुष्यमित्र ने मौर्य शासन को उखाड़कर कण्व गोत्रीय ब्राह्मण वंश का शासन स्थापित किया था और दिग्विजय के उपलक्ष्य में दो बार अश्वमेध यज्ञ किया था, जिसमें पतंजलि को आचार्य होने का गौरव मिला था।

वामन-जयादित्य :—संस्कृत वाङ्मय में अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं, जिन्हें दो व्यक्तियों ने मिलकर लिखा है, परंतु उसको उद्धृत करने वाले ग्रन्थकार किसी एक व्यक्ति के नाम से ही सम्पूर्ण ग्रन्थ के पाठ को उद्धृत करते हैं।[1] उदाहरणार्थ—स्कन्द और महेश्वर ने मिलकर निरुक्त की टीका लिखी, परन्तु देवराज यज्वा ने समग्र ग्रन्थ के उद्धरण स्कन्द के नाम से ही लिखा है, मेहश्वर का कहीं स्मरण भी नहीं किया। इसी प्रकार चीनी यात्री इत्सिंग ने अपनी भारतयात्रा के वर्णन में जयादित्य को काशिका का रचयिता लिखा है।[2] उसने 'वामन' का निर्देश नहीं किया है। वस्तुत: जयादित्य और वामन विरचित सम्मिलित वृत्ति 'काशिका' नाम से प्रसिद्ध है। महाभाष्य और भर्तृहरिविरचित ग्रन्थों के अनन्तर यह सबसे प्राचीन और महत्त्वपूर्ण वृत्ति है। इसमें बहुत से सूत्रों की वृत्ति और उदाहरण प्राचीन वृत्तियों से संगृहीत है। 'काशिका' की सबसे प्राचीन व्याख्या जिनेन्द्रबुद्धि विरचित 'काशिकाविवरणपञ्जिका' है। वैयाकरण निकाय में यह 'न्यास' नाम से प्रसिद्ध है। यह व्याख्या जयादित्य और वामन की सम्मिलित वृत्ति पर है।

---

१. निरुक्त ७/३१ की महेश्वर विरचित टीका को देवराज ने स्कन्द के नाम से उद्धृत किया है। निघण्टु टीका, पृष्ठ १६२।

२. इत्सिंग की भारतयात्रा, पृष्ठ २६९।

प्राचीन ग्रन्थकारों ने जयादित्य और वामन के नाम से काशिका के जो उद्धरण दिये है, उनसे विदित होता है कि प्रथम पाँच अध्याय जयादित्य विरचित है और अन्तिम तीन वामनकृत। हरिदीक्षित ने 'प्रौढ़मनोरमा' की शब्दरत्नव्याख्या में प्रथम, द्वितीय, पंचम तथा षष्ठ अध्याय को जयादित्य विरचित और शेष अध्यायों को वामनकृत लिखा है।[१]

काशिका की सूक्ष्म शैली से पर्यवेक्षण करने पर भी यही परिणाम निकलता है कि प्रथम पाँच अध्याय जयादित्य की रचना है और अन्तिम तीन अध्याय वामनकृत है। जयादित्य की अपेक्षा वामन का लेख अधिक प्रौढ़ है।

वर्तमान में काशिका का जो संस्करण मिलता है, उसमें भी प्रथम पाँच अध्याय जयादित्य विरचित है और अन्तिम तीन अध्याय वामनकृत है। जिनेन्द्रबुद्धि ने अपनी न्यास व्याख्या दोनों की सम्मिलित वृत्ति पर रची है। दोनों का सम्मिश्रण क्यों और कब हुआ? यह अज्ञात है, 'भाषावृत्ति' आदि में 'भागवृत्ति' के जो उद्धरण उपलब्ध होते हैं, उनमें जयादित्य और वामन की सम्मिश्रित वृत्तियों का खण्डन उपलब्ध होता है। अतः यह सम्मिश्रण भागवृत्ति बनने (वि०सं० ७००) से पूर्व हो चुका था, यह निश्चित है।

काशिका के लिए एकवृत्ति[२] और प्राचीनवृत्ति शब्दों का व्यवहार प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। काशिका की प्रतिद्वन्द्विनी 'भागवृत्ति' नाम की एक वृत्ति थी इसमें पाणिनीय सूत्रों को लौकिक और वैदिक दो विभागों में बाँट कर भागशः व्याख्या की गयी थी। काशिका में पाणिनीयक्रमानुसार लौकिक एवं वैदिक सूत्रों की यथास्थान व्याख्या की गयी है। इसलिये भागवृत्ति की प्रतिद्वन्द्विता में 'काशिका' के लिए एकवृत्ति शब्द का व्यवहार होता है।[३]

संस्कृत वाङ्मय में वामन नाम के अनेक विद्वान् प्रसिद्ध हैं। एक वामन 'विश्रान्तविद्याधर' संज्ञक जैन व्याकरण का कर्त्ता है।[४] दूसरा 'अलंकार शास्त्र' का रचयिता है और तीसरा 'लिंगानुशासन' का निर्माता है। ये सब पृथक्-पृथक् व्यक्ति हैं। काशिका के रचयिता वामन इन सबसे भिन्न व्यक्ति हैं। इनमें निम्न तर्क दिये जा सकते हैं—

भाषावृत्तिकार पुरुषोत्तमदेव ने काशिका और भागवृत्ति के अनेक पाठ साथ-साथ उद्धृत किये हैं। उनकी तुलना से व्यक्त होता है कि भागवृत्तिकार स्थान-स्थान पर काशिका का खण्डन करता है।

---

१. प्रथम द्वितीय पञ्चमषष्ठा जयादित्यकृत वृत्तयः इतरे वामनकृतवृत्तय इत्याभियुक्ताः। भाग १, पृष्ठ ५०४।

२. अनार्ष इत्येकवृत्त्रावुपयुक्तम्। भाषा वृत्ति १/१/१६।

३. एकवृत्तौ साधारणवृत्तौ वैदिकलौकिके च विवरणम् इत्यर्थः। एक वृत्ताविति काशिकायां वृत्तावित्यर्थः। सृष्टिधर। भाषावृत्ति पृष्ठ ५, टि० ८।

४. वामनो विश्रान्तविद्याधरव्याकरणकर्त्ता। गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ २।

उदाहरणार्थ :—

१. साहाय्यमित्यपि ब्राह्मणादिष्वादिति जयादिर्यः नेति भागवृत्तिः।[१]

२. 'कथमद्यश्वीनो वियोगः? विजायत इत्यस्यानुवृत्तेरिति जयादित्यः स्त्रीलिंगनिर्देशादुपमानस्याप्यसंभवान्नैतदिति भागवृत्तिः।'[२]

३. 'इह समानस्येति योगविभागः तेन सपक्षसधर्मसजातीयाः सिद्ध्यन्तीति वामनवृत्तिः। अनार्षोऽयं योगविभागः तथाहनव्ययानामनेकार्थत्वात्। सदृश अर्थस्य सहशब्दस्यैते प्रयोगाः कथं नाम समानपक्ष इत्यादयोऽपि भवन्तीति भागवृत्तिः।'[३]

४. दृशिग्रहणादिह पूरूषो नारक इत्यादावप्ययं दीर्घ इति वामन वृत्तिः। अनेनोत्तरपदे विधानादप्राप्तिरिति पुरुषादयो दीर्घोपदेशा एव संज्ञा शब्दा इति भागवृत्तिः।[४]

उपरोक्त उदाहरणों में प्रथम दो उदाहरण जयादित्य का और तृतीय चतुर्थ में वामनवृत्ति का खण्डन है। भागवृत्ति का काल विक्रमसंवत्, ७०२-७०५ तक है। उसी के अनुसार वामन का काल ७०० से पूर्व मानना होगा। 'अलंकारशास्त्र' और 'लिंगानुशासन' के प्रणेता वामन का काल विक्रम की नवम शताब्दी है।[५]

'विश्रान्तविद्याधर' का कर्त्ता वामन विक्रम संवत् ३७५ अथवा ३७३ से पूर्वभावी है। अतः काशिकाकार वामन इन सबसे भिन्न व्यक्ति हैं तथा वामन का काल विक्रम की सप्तम शताब्दी है। कन्नड़ पंचतन्त्र में जयादित्य और वामन को गुप्तवंशीय विक्रमांक सहसांक का समकालिक कहा है। यह विक्रमांक सहसांक चन्द्रगुप्त द्वितीय है। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार इनका काल वि०सं० ४६७-४७० तक माना जाता है। यही विक्रम संवत् का प्रवर्तक है। यदि पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार इसे चन्द्रगुप्त द्वितीय का काल स्वीकार कर लिया जाय तो भी 'काशिका' का काल 'विक्रमाब्द की चतुर्थ शती का मध्य मानना होगा।'

'कन्नड़ पंचतन्त्र' में जयादित्य और वामन के द्वारा कही गयी सूक्तिमुक्तावलियों की ओर संकेत है। इसमें जयादित्य और वामन दोनों के सुभाषित संगृहीत है। तदनुसार कन्नड़ 'पञ्चतन्त्रकार' का लेख निश्चय ही प्रामाणिक है। इस आधार पर उसके द्वितीय अंश की प्रामाणिकता में सन्देह करना स्वयं सन्देहास्पद हो जाता है।

---

१. भाषावृत्ति, पृष्ठ ३१०।

२. भाषावृत्ति, पृष्ठ २१४।

३. भाषावृत्ति, पृष्ठ ४२०।

४. भाषावृत्ति, पृष्ठ ४२७।

५. कन्हैयालाल पोद्दार कृत 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' भाग १ पृष्ठ १५३ तथा वामनीय लिंगानुशासन की भूमिका।

दूसरी ओर जयादित्य के काल निर्धारण में इत्सिंग का लेख तथा अन्य विद्वानों के द्वारा दिये गये उदाहरण प्रमाण हैं। इत्सिंग के लेखानुसार जयादित्य की मृत्यु वि०सं० ७१८ के लगभग हुई थी।[१] यदि इत्सिंग का लेख और उसकी भारतयात्रा का माना हुआ काल ठीक हो तो यह जयादित्य की चरम सीमा होगी। काशिका १/३/२३ में भारवि का एक पद्यांश उद्धृत है।[२] महाराज दुर्विनीत ने 'किरातार्जुनीयम्' के १५वें सर्ग की व्याख्या लिखी थी। दुर्विनीत का राज्यकाल सं० ५२९-५६९ वि० तक है, अतः भारवि सं० ५३९ वि० से पूर्ववती हैं, यह निश्चित है और यह काशिका की पूर्व सीमा है।

भट्टोजिदीक्षित :—भट्टोजिदीक्षित जी ने अष्टाध्यायी की 'शब्दकौस्तुभ' नाम्नी महती वृत्ति लिखी है। यह वृत्ति इस समय उपलब्ध नहीं है, इसके केवल प्रारम्भ के ढाई अध्याय और चतुर्थ अध्याय ही उपलब्ध हैं। इसके प्रथमाध्याय के प्रथम पाद में इन्होंने पतंजलि, कैयट और हरदत्त के ग्रन्थों का अपने शब्दों में संग्रह किया है।

भट्टोजिदीक्षित जी ने लिखा है—

इत्थं लौकिकशब्दानां दिङ्मात्रमिह दर्शितम्।
विस्तरस्तु यथास्तु दर्शितः शब्दकौस्तुभे॥

इससे यह व्यक्त होता है कि दीक्षित जी ने शब्दकौस्तुभ ग्रन्थ सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर लिखा था। 'अतो लोपः' सूत्र की प्रौढ़मनोरमा और उसकी 'शब्दरत्न' व्याख्या से इतना स्पष्ट है कि 'शब्दकौस्तुभ' षष्ठाध्याय तक अवश्य लिखा गया था।[३]

भट्टोजिदीक्षित ने शब्दकौस्तुभ के अतिरिक्त 'सिद्धान्तकौमुदी' और उसकी व्याख्या 'प्रौढ़मनोरमा' लिखी है। समस्त भारत-वर्ष में पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन-अध्यापन इसी 'सिद्धान्तकौमुदी' के आधार पर प्रचलित है। यह पाणिनीय व्याकरण की सूत्रपाठानुसारी विस्तृत व्याख्या है। इसमें प्रक्रियाकौमुदी और उसकी टीकाओं का स्थान-स्थान पर खण्डन किया है। प्रायः सभी प्राचीन ग्रन्थकार अन्य वैयाकरणों के मतों का भी अपने ग्रन्थ में संग्रह करते रहे हैं, परन्तु भट्टोजिदीक्षित ने इस प्रक्रिया का सर्वथा उच्छेद कर दिया। जिसके कारण आधुनिक काल के पाणिनीय वैयाकरण अर्वाचीन व्याकरण के तुलनात्मक ज्ञान से सर्वथा वंचित हो गये। 'प्रौढ़मनोरमा' पर भट्टोजिदीक्षित के पौत्र हरिदीक्षित ने 'बृहच्छब्दरत्न' और 'लघुशब्दरत्न' नामक दो टीकाएँ लिखी है।

इसके अतिरिक्त भट्टोजिदीक्षित ने विभिन्न विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं।[४] इनका एक ग्रन्थ 'वेदभाष्यसार', 'भारतीय विद्याभवन बम्बई' से प्रकाशित हुआ है।

---

१. इत्सिंग की भारत यात्रा, पृष्ठ २७०।

२. 'संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः।' तिरात० ३/१४।

३. विस्तरः शब्दकौस्तुभे बोध्यः।

४. वेदभाष्य की अंग्रेजी भूमिका पृष्ठ १, टि० ३ में दीक्षितकृत ३४ ग्रन्थों का उल्लेख हैं। उन में एक 'धातुपाठ-निर्णय' ग्रन्थ भी है।

यह ऋग्वेद के प्रथमाध्याय पर है और यह 'सायणीय ऋग्भाष्य' का संक्षेप है। इनके द्वारा लिखा गया अमरटीका का हस्तलेख 'मद्रास राजकीय-हस्तलेख संग्रह' में है। भट्टोजिदीक्षित जैसे प्रसिद्ध ग्रन्थकार का काल बहुत ही विवादास्पद है।

'लन्दन के इण्डिया ऑफिस के पुस्तकालय' में विट्ठल विरचित प्रक्रियाप्रसाद नाम्नी टीका का एक हस्तलेख संगृहीत है। इसके अन्त में इसका लेखन काल १५३६ अंकित है। यह प्रक्रिया प्रसाद की प्रतिलिपि का काल है। विट्ठल ने ग्रन्थ की रचना इससे पूर्व की होगी। इन्होंने व्याकरण का अध्ययन शेषकृष्ण-सुनू वीरेश्वर अपरनाम रामेश्वर से किया था।[१] विट्ठल के अध्ययन काल में शेषकृष्ण का स्वर्गवास हो गया था, इसमें कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है। यह अधिक सम्भव हो सकता है कि विट्ठल ने शेषकृष्ण के जीवित रहते हुए भी किन्हीं कारणों से वीरेश्वर से अध्ययन किया हो या तो शेषकृष्ण वृद्धावस्था में काशी चले गये हों और वहीं भट्टोजिदीक्षित ने व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया हो। इसके साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि शेषकृष्ण के अन्तिमकाल में भट्टोजिदीक्षित ने उनसे शिष्यत्व ग्रहण किया हो। अतः यह काल वि०सं० १५७० से १६५० के मध्य उपपन्न हो सकता है।

यहाँ हम यह बताना आवश्यक समझते हैं कि पण्डितराज जगन्नाथ कृत 'प्रौढ़मनोरमा' से प्रतीत होता है कि भट्टोजिदीक्षित ने शेषकृष्ण से व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया था। भट्टोजिदीक्षित ने भी शब्दकौस्तुभ में प्रक्रियाप्रकाशकार शेषकृष्ण के लिए गुरु शब्द का व्यवहार किया है।[२]

पण्डिराज जगन्नाथ ने प्रौढ़मनोरमा-खण्डन 'मनोरमाकुचमर्दन' में लिखा है—

'इत्थं च 'ओत्' सूत्रगतकौस्तुभग्रन्थः सर्वोऽप्यसंगत इति ध्येयम्। अधिकं कौस्तुभखण्डनादवसेयम्।'[३]

इससे स्पष्ट होता है कि पण्डितराज जगन्नाथ ने शब्दकौस्तुभ के खण्डन में कोई ग्रन्थ लिखा था जो इस समय उपलब्ध नहीं है।

पण्डित राज जगन्नाथ और भट्टोजिदीक्षित के सम्बन्ध के विषय में किसी ने लिखा है—

'गर्वीले द्रविण (अप्पय दीक्षित) के दुराग्रहरूपी भावावेश से गुरुद्रोही भट्टोजि ने भरे समाज में उन्हें 'म्लेच्छ' कह दिया, जिसका उत्तर पण्डितराज ने मनोरमाकुचमर्दन से दिया।'

भर्तृहरि :—भर्तृहरि ने अपने किसी ग्रन्थ में अपना कोई परिचय नहीं दिया है। अतः भर्तृहरि के विषय में हमारा ज्ञान अत्यल्प है।

---

१. तमर्थकं कृष्णगुरोर्नमामि रामेश्वराचार्यगुरुगुणाब्धिम्, प्रक्रियाकौमुदीप्रसादान्ते।

२. तदेतत् सकलमाभधायप्रक्रियाप्रकाशे गुरूचरणैरुक्तम्। पृष्ठ १४५।

३. चौखम्भा संस्कृतसीरिज काशी से सं० १९९१ में प्रकाशित प्रौढ़मनोरमा भाग ३ के अन्त में मुद्रित, पृष्ठ २१।

चीनी यात्री इत्सिंग ने लिखा है—'वाक्यपदीय और महाभाष्यटीका का रचयिता आचार्य भर्तृहरि बौद्धमतानुयायी था। उसने सात बार प्रव्रज्या ग्रहण की थी।[१] किन्तु वाक्यपदीय और महाभाष्य के अनुशीलन से विदित होता है कि भर्तृहरि वैदिकधर्मी था।' जैसा कि वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड में उन्होंने लिखा है—

न चायमाहते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते॥

पुनः उन्होंने आगे लिखा है—

वेदशास्त्राविरोधी च तर्कश्चक्षुरपश्यताम्।

इन दोनों उल्लेखों से स्पष्ट है कि वेद के विषय में ऐसे उद्‌गार वेद-विरोधी बौद्ध विद्वान् कभी व्यक्त नहीं कर सकता। जैन विद्वान् वर्धमानसूरि ने भर्तृहरिकृत महाभाष्य टीका का उद्धरण देकर लिखा है—

यस्त्वयं वेदविदामलकांरभूतो वेदांगत्वात् प्रमाणिकशब्दशास्त्रम्ः
सर्वज्ञमन्य उपमीयते तेन कथमेतत् प्रयुक्तम्।[२]

इसके अतिरिक्त उप्पल ने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' में 'तत्र भगवद्भर्तृ-हरिणाऽपि न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके?' इत्यादि वाक्यपदीय की कारिकाओं का उदाहरण देते हुए लिखा है—

बौद्धरपि अध्यवसायापेक्षं प्रकाशस्य प्रामाण्यंवरुद्धिरुपगतप्राय एवायमर्थः।

इन सभी प्रमाणों से भर्तृहरि के बौद्ध धर्मावलम्बी न होने की बात पुष्ट होती है।

भर्तृहरि के महाभाष्य टीका पर अनेक टीकाएँ लिखी गयी थी। भर्तृहरि ने अपनी टीका में 'अन्ये, अपरे, केचित्' आदि शब्दों द्वारा अनेक प्राचीन टीकाओं के पाठ उद्धृत किये हैं परन्तु इन टीकाकारों के नाम अज्ञात होने के कारण उनका कोई वर्णन नहीं किया है। भर्तृहरि द्वारा रचित महाभाष्य टीका के अवलोकन से ज्ञात होता है कि महाभाष्य पर यदि न्यूनातिन्यून तीन टीकाएँ लिखी गयीं होती तो यह भ्रम दूर हो जाता।

प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि भर्तृहरि नाम के अनेक व्यक्ति हो चुके हैं और उनका ठीक-ठीक विभाग ज्ञात न होने से इतिहास में अनेक उलझने आ गयी हैं, जिन्हें सुलझाने हेतु आवश्यक है कि भर्तृहरि के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों पर विचार कर लिया जाय।

संस्कृत-वाङ्मय में भर्तृहरि-विरचित निम्न ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—

१. महाभाष्य दीपिका २. वाक्यपदीय काण्ड १, २ की 'स्वोपज्ञ' टीका।
३. भाट्टिकाव्य ४. भागवृत्ति

---

१. इत्सिंग की भारत यात्रा पृष्ठ २७४।
२. गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ १२३।

५. शतकत्रय–नीति, शृंगार, वैराग्य 'विज्ञान'[१]

६. मीमांसाभाष्य ७. वेदांगसूत्रवृत्ति

८. शब्दधातुसमीक्षा ९. षष्ठीश्रावी भर्तृहरिवृत्ति[२]

भट्टिकाव्य :—मल्लिनाथ आदि सभी टीकाकार भट्टिकाव्य को भर्तृहरि विरचित मानते हैं। पंचपादी, उणादिवृत्तिकार, श्वेतवनवासी भट्टिकाव्य को ही भर्तृहरि के नाम से उद्धृत करते हैं।[३] भट्टिकाव्य की रचना वल्लभी के राजा श्रीधरसेन के काल में हुई है। वल्लभी के राजकुल में श्रीधरसेन नाम के चार राजा हुए हैं, जिनका राज्यकाल संवत् ५५० से ७०५ तक माना जाता है। अतः भट्टिकाव्य का कर्त्ता आद्यभर्तृहरि नहीं हो सकता।

भागवृत्ति :—यह अष्टाध्यायी की एक प्राचीन प्रामाणिक वृत्ति है। भागवृत्ति के उद्धरण व्याकरण के अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं।[४] भाषावृत्ति के टीकाकार सृष्टिधराचार्य ने लिखा है—भर्तृहरि ने श्रीधरसेन की आज्ञा से भागवृत्ति की रचना की।[५] जबकि श्रीपतिदत्त ने भागवृत्ति के रचयिता का नाम विमलमति लिखा है। भागवृत्ति की रचना काशिका के अनन्तर हुई है, यह निर्विवाद है। अतः भागवृत्तिकार भर्तृहरि व्याक्यपदीयकार से भिन्न हैं।

भागवृत्ति को भर्तृहरि की कृति मानने पर भी वह भर्तृहरि महाभाष्यव्याख्याता आद्य भर्तृहरि से भिन्न व्यक्ति हैं।

शतक-त्रय :—नीति, शृंगार और वैराग्य इन तीनों शतकों के रचयिता भर्तृहरि माने जाते हैं, किन्तु इनके रचयिता कौन से भर्तृहरि हैं यह अज्ञात है। जैन ग्रन्थकार वर्धमान सूरि ने गणरत्नमहोदधि में लिखा है—

> वार्त्तेव वार्तम्। यथा—हरिराकुमारखिलाभिधानवित्
> स्वजनस्य वार्तामन्वयुङ्क्त सः।

इस पद्य का संकेत नीतिशतक में आये 'यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता' श्लोक की ओर हो सकता है। अतः वर्धमान सूरि की यह कल्पना ठीक हो तो नीतिशतक आद्य भर्तृहरिकृत होगा; क्योंकि इसमें 'आखिलाभिधानवित्' लिखा है;

---

१. यह ग्रन्थ अभी कुछ समय पूर्व ही प्रकाश में आया है। अतः यह भर्तृहरि विरचित है या नहीं इसके विषय में सन्देह है।

२. कोशकल्पतरु, पृष्ठ ६५।

२. तथा च भर्तृकाव्यप्रयोगः। पृष्ठ ८३, १२६।

४. ओरियण्टल कॉलेज मैग्जीन लाहौर, नवम्बर १९४० में 'भागवृत्ति संकलन' नामक युधिष्ठिर मीमांसक का लेख, पृष्ठ ६७।

५. भागवृत्तिर्भर्तृहरिणा श्रीधरसेननरेन्द्रादि विरचिता। ८/४/६८।

क्योंकि इन्होंने अन्यत्र भी भर्तृहरि के लिए 'वेदविदामलंकारभूतः', 'प्रामाणित शब्दशास्त्रः' आदि विशेषणों का प्रयोग किया है।[१]

मीमांसा-सूत्रवृत्ति :—आचार्य पुष्पांजलि 'वाल्यूम' में पं० रामकृष्ण कवि का एक लेख प्रकाशित हुआ है, उसमें पृष्ठ ५० पर लिखा है—

'वाक्यपदीयकार भर्तृहरि कृत जैमिनीय मीमांसा की वृत्ति शबर से प्राचीन है।'

भर्तृहरिकृत महाभाष्य-दीपिका तथा वाक्यपदीय के अवलोकन से स्पष्ट विदित होता है कि भर्तृहरि मीमांसा का महान् पण्डित था। भर्तृहरि शबरस्वामी से प्राचीन हैं, इसकी पुष्टि महाभाष्यदीपिका से भी होती है।

धर्मपेयोजनो वेति मीमांसाकदर्शनम्। अवस्थित एव धर्मः, स त्वाग्निहोत्रादिभिरभिव्यज्यते, तत्प्रेरितस्तु फलदो भवति। यथा स्वामी भृत्यैः सेवायां प्रेर्यते।[२]

श्लोक वार्तिक न्यायरत्नाकर टीका (पृष्ठ ४९ चौखम्बा, काशी) के अनुसार यह मत भर्तृमित्र नामक प्राचीन मीमांसक का है। इसकी तुलना भट्जयन्त्र के निम्न वचनों से करने पर वृद्धमीमांसक यागादिकर्मनिर्दव्यमपूर्व नाम धर्ममभिवदन्ति। भागादिकर्मैव शबराब्रुवते। से स्पष्ट होता है कि धर्म के विषय में मीमांसकों के तीन मत हैं—

(क) भर्तृहरि के मत में धर्म नित्य है, यागादि द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होती है।

(ख) वृद्धमीमांसक यागादि से उत्पन्न होने वाले अपूर्व को धर्म मानते हैं।

(ग) शबरस्वामी यागादि कर्म को ही धर्म मानते हैं।

धर्म के विषय में उपर्युक्त सभी मतों पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि भट्टध्यन्तोक्त वृद्धमीमांसक शबर से पूर्ववर्ती है और भर्तृहरि उन वृद्धमीमांसकों से भी प्राचीन हैं।

वेदान्त-सूत्रवृत्ति :—यह ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है। 'सिद्धित्रय' नामक ग्रन्थ में यामुनाचार्य ने वेदान्त-सूत्र के व्याख्याता में टंक, भर्तृप्रपंच, भर्तृमित्र, ब्रह्मदत्त, शंकर, श्रीवत्सांक और भास्कर के साथ भर्तृहरि का भी उल्लेख किया है।[३]

---

१. यस्तव्यं वेदविदामलंकारभूतो वेदांगत्वात् प्रमाणितशब्द-शास्त्रः सर्वज्ञमन्य उपमीयते। गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ १२३।

२. महाभाष्यदीपिका पृष्ठ ३८, भर्तृहरि ने वाक्यपदीय १/१४५ के स्वोपज्ञ विवरण में 'न प्रकृत्या किञ्चित् कर्मदृष्टमदृस्टं वा शास्त्रानुष्ठानात्तु केवलाद् धर्माभिव्यक्तिः' वचन द्वारा किसी मीमांसक का मत उद्धृत किया है। श्लोकवार्तिक रत्नाकर टीकाकार पृष्ठ ४ चौखम्भा, काशी के अनुसार यह मत भर्तृमित्र नामक प्राचीन मीमांसक का है।

३. तथापि आचार्यटंक-भर्तृप्रपंच-भर्तृमित्र-भर्तृहरि-ब्रह्मदत्त-शंकर-श्रीवत्सांक-भास्करादि-विरचितसितविविधनिबन्धश्रद्धा विप्रलब्धबुधयो ननु यथान्यथा च प्रतिपद्यन्ते इति तत्प्रीत्ये युक्तः प्रकरणप्रकमः।

यहाँ भर्तृहरि के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों के अध्ययन से भर्तृहरि के काल को ४०० विक्रम पूर्व माना जा सकता है। वाक्यपदीय और स्वोपज्ञटीका, महाभाष्य दीपिका, भट्टिकाव्य और भागवृत्ति के उपलभ्यमान सभी उद्धरणों पर महती सूक्ष्मता से विचार करके स्पष्ट होता है कि प्राचीन ग्रन्थों में भर्तृहरि अथवा हरि के नाम से जितने उद्धरण उपलब्ध होते हैं वे सब आद्य भर्तृहरि के हैं। भट्टिकाव्य के उद्धरण भट्टि नाम से ही दिये गये हैं। केवल श्वेतवनवासी विरचित उणादिवृत्ति के हस्तलेख में भट्टिकाव्य के उद्धरण भर्तृकाव्य के नाम से दिये गये हैं। भागवृत्ति का कोई भी उद्धरण भर्तृहरि के नाम से नहीं दिया गया है, उसके सभी उद्धरण भागवृत्ति, भागवृत्तिकृत अथवा भागवृत्तिकार नाम से है।

भर्तृहरि के नाम के सम्बन्ध में उत्पन्न शंकाओं को दूर करने हेतु अर्वाचीन वैयाकरणों ने सहयोग किया है, उन्होंने कहीं भी इन तीनों का सांकर्य नहीं किया है, इन तीनों के उद्धरण सर्वत्र पृथक्-पृथक् नामों से दिये गये हैं।

आचार्य भर्तृहरि ने महाभाष्य की एक विस्तृत और प्रौढ़ व्याख्या लिखी है जो वैयाकरण निकाय में 'महाभाष्यदीपिका' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके उदाहरण अनेक ग्रन्थों में द्रष्टव्य है। महाभाष्यदीपिका को वर्तमान समय में प्रकाश में लाने का श्रेय डॉ० कीलहार्न को है।

इत्सिंग ने अपने भारतयात्रा विवरण में दीपिका का परिमाण २५००० श्लोक लिखा है, परन्तु इस लेख से यह स्पष्ट विदित नहीं होता है कि भर्तृहरि ने सम्पूर्ण महाभाष्य पर टीका लिखी थी अथवा उसके कुछ अंश पर वर्तमान में दीपिका का जितना भाग उपलब्ध होता है उससे भी प्रतीत होता है कि २५०० श्लोक परिमाण तीन पाद से अधिक ग्रन्थ नहीं हो सकता।[१] अतः डॉ० कीलहार्न का भी उपर्युक्त कथन से यही मत प्रतीत होता है, किन्तु विभिन्न व्याकरण-ग्रन्थों में अनेक ऐसे उद्धरण उपलब्ध होते हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि भर्तृहरि ने महाभाष्य के प्रारम्भिक तीन पादों पर ही व्याख्या नहीं लिखी, अपितु सम्पूर्ण महाभाष्य पर टीका लिखी थी। जिसके लिए महाभाष्य के तीन पाद से आगे के प्रमाण निम्नलिखित हैं—

१. भर्तृहरि ने वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड की स्वोपज्ञ टीका में लिखा है—

'संहितासूत्रभाष्यविवरणे बहुधा विचारितम्।'

संहितासूत्र अर्थात् 'परः सन्निकर्षः संहिता' प्रथमाध्याय के चतुर्थ पाद का १०९वाँ सूत्र है।

हरि भास्कर ने परिभाषा-भास्कर के अन्त में भर्तृहरि का एक वचन उद्धृत किया है—

---

१. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास प्रथम भाग, पृष्ठ संख्या ४१९ पं० युधिष्ठिर मीमांसक।

'अत्रोत्पत्तिमत्स्वापि पदार्थेषु सच्छब्दः सम्बन्धं न व्यभिचरतीति तत उत्पन्नो भावप्रत्यक्षः क्रियासम्बन्धं न आह, अपि तु सामान्यम्। इदं च भर्तृहरेर्वचनमित्युक्तम्।'

भर्तृहरि का यह लेख अष्टाध्यायी ५/१/११९ की महाभाष्य की व्याख्या में हो सकता है।

इसी प्रकार पुरुषोत्तमदेव के भाषावृत्ति ३/१/१६ पर, हरिभास्कर के परिभाषा-भास्कर के अन्त में तथा मैत्रेयरक्षित के तन्त्रप्रदीप ८/३/२१ में आये भर्तृहरि के कथन से विदित होता है कि भर्तृहरि का कोई ग्रन्थ सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर अवश्य था।

इत्सिंग के काल में 'महाभाष्य-दीपिका' का जितना अंश उपलब्ध था, उसने उतने ग्रन्थ का परिमाण लिख दिया। भर्तृहरि ने सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर वृत्ति लिखी हो, ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। अतः यही मानना उचित प्रतीत होता है कि उसने सम्पूर्ण महाभाष्य पर व्याख्या लिखी थी।

वस्तुतः वैयाकरण निकाय में महाभाष्यकार पतंजलि के पश्चात् भर्तृहरि ही सबसे प्रामाणिक व्यक्ति माने जाते हैं। इनकी प्रामाणिकता को पाणिनीयेतर वैयाकरणों ने भी स्वीकार की है। जैसा कि गणरत्नमहोदधि के लेखक वर्धमान सूरि के कथन के द्वारा भी स्पष्ट होता है—

यस्त्वयं वेदविदालंकारभूतो वेदांगत्वात् प्रमाणितशब्दशास्त्रः सर्वज्ञमन्य उपमीयते......................। गणरत्नमहोदधि पृष्ठ १२३।[1]

●

---

१. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास प्रथम भाग पृष्ठ संख्या ३१७ पं० युधिष्ठिर मीमांसक।

द्वितीय अध्याय
महाभाष्य

महाभाष्य का सामान्य परिचय

पतंजलि विरचित महाभाष्य व्याकरण-शास्त्र का अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है। यह अष्टाध्यायी का व्याख्यान रूप है, अतः इसमें पदविभाग की योजना भी अष्टाध्यायी के अनुसार ही है। महाभाष्य में अष्टाध्यायी के सूत्रों तथा उन पर लिखे गये वार्तिकों के व्याख्यान द्वारा उन समस्त ग्रन्थों का सार संगृहीत कर दिया गया है, जो ग्रन्थ आचार्य पाणिनि तथा महामुनि पतंजलि के समय तक विद्यमान थे। इसमें कुल ८५ आह्निक हैं। इसके अध्ययन से प्रतीत होता है कि इसमें इतिहास और दर्शन सभी का समन्वय है। इसमें व्याकरण जैसे क्लिष्ट और शुष्क विषय को अत्यन्त सरल और सरस ढंग से हृदयंगम कराया गया है। इसकी भाषा लम्बे-लम्बे समासों से रहित, छोटे-छोटे वाक्यों से युक्त, अत्यन्त सरल, परन्तु बहुत प्रांजल और सरस है। इसमें स्थान-स्थान पर पारिभाषिक और शास्त्रीय पदावली का प्रयोग अपरिहार्य था, किन्तु इसे सहज करने के लिए लोक व्यवहार में प्रयुक्त सरल और सुपरिचित शब्दों का प्रयोग किया गया है और जहाँ कहीं भी प्रतिपाद्य विषय अत्यन्त कठिन एवं दुरूह है, वहाँ बीच-बीच में मनोरंजन युक्त वाक्य डालकर विषय के अनुकूल लौकिक दृष्टान्त वाक्यों का समावेश कर उन्होंने जिज्ञासा को यथावत् बनाये रखा है। अतः कोई भी असंस्कृतज्ञ व्यक्ति दो तीन मास के परिश्रम से इसे समझने योग्य संस्कृत सीख सकता है। लेखन शैली की दृष्टि से यह ग्रन्थ संस्कृत वाङ्मय में सबसे अद्भुत है। शबरस्वामी ने महाभाष्य के आदर्श पर अपना मीमांसा-भाष्य लिखने का प्रयास किया, परन्तु उनकी भाषा इतनी प्रांजल नहीं हो सकी है, वाक्य-रचना उतनी प्रभावशाली नहीं है और अनेक स्थानों में उनकी भाषा अपने भावों को व्यक्त करने में पूर्ण समर्थ नहीं है।

स्वामी शंकराचार्य के वेदान्तभाष्य की भाषा यद्यपि प्रांजल और भाव व्यक्त करने में समर्थ है तथापि महाभाष्य जैसी सरल और स्वाभाविक नहीं है।

अतः पतंजलि की योग्यता को देखकर ही पुण्यराज ने कहा है—'कि पतंजलि ने अपने ग्रन्थ में दार्शनिक सिद्धान्तों एवं बीजों का समावेश किया है।[१] अनेक विद्वानों

---

१. वाक्यपदीयम् २/४८५।—(पर पुण्यराज)

द्वारा भी प्रामाणित होता है कि 'महाभाष्य व्याकरण और व्याकरण दर्शन का आकर ग्रन्थ है। महाभाष्य व्याडि के 'संग्रह ग्रन्थ' का प्रतिनिधि ग्रन्थ है।'[१]

पतंजलि ने महाभाष्य में जो कुछ भी कहा है वह सूत्रों और वार्तिकों के द्वारा भाष्य के रूप में ही कहा गया है। इसमें जहाँ भी वार्तिककारों और सूत्रकारों में मतभेद की स्थिति आयी है उसे उन्होंने अपने मौलिक विचारों से दूर करने का प्रयास किया है। सूत्रकार और वार्तिककार के विचार भी पतंजलि की व्याख्या के सहारे ही स्वरूप ग्रहण करते हैं, अतः सम्पूर्ण व्याकरण-दर्शन महाभाष्य में फैला पड़ा है। इसीलिये महाभाष्य के विषय में पुण्यराज का स्पष्ट कथन है—'कि महाभाष्य में अनेक विद्यावाद तथा दर्शन प्रवाद हैं।'[२]

महाभाष्य का रचनात्मक स्वरूप :—पाणिनि-रचित व्याकरणग्रन्थ अष्टाध्यायी पर व्याख्या करने वाले आचार्यों में पतंजलि का मुख्य स्थान है। 'पातंजल महाभाष्य' विषय, भाषा एवं शैली की दृष्टि से केवल व्याकरण वाङ्मय में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय में शीर्ष स्थान रखता है। इसमें अष्टाध्यायी के सूत्रों तथा उन पर लिखे गये वार्तिकों का विवेचन किया गया है, इसके अतिरिक्त इसमें आवश्यकतानुसार अपने अभीष्ट वाक्यों का समावेश भी कर दिया गया है।

महाभाष्य का विभाजन आह्निकों में हुआ है। इसके गहन अनुशीलन से यह बात सहज ही स्पष्ट हो जाती है कि इसका आह्निकों में विभाजन पूर्णतः स्वाभाविक है। महाभाष्य के आह्निकों के रूप में विभाजन के पीछे पतंजलि के शिष्यों के बीच यह तथ्य प्रसिद्ध है कि महाभाष्य के ८५ आह्निक पतंजलि द्वारा उनके शिष्यों को पढ़ाये गये ८५ दिन के पाठ हैं, जिसका समर्थन आह्निक शब्द ही करता है, जिसका मूल अर्थ 'अह्नि निर्वृत्तम्' अर्थात् एक दिन में पढ़ाये गये पाठ से है। पतंजलि ने अपने पूर्वकालीन आचार्यों के ग्रन्थों का दीर्घ अनुशीलन करने के पश्चात् ही इस ग्रन्थ की रचना की है। जिसके कारण व्याकरण का कोई भी विषय दृष्टि से ओझल नहीं हो पाया है। इसकी रचना में पतंजलि ने समीक्षात्मक एवं निरूपणात्मक शैली को अपनाया है, जिसके कारण यह भाष्यकर की शैली द्वारा सूत्रों की व्याख्या मात्र न रहकर पूर्ण वैज्ञानिक ग्रन्थ बन गया है। अतः इसकी गणना कुछ विशिष्ट दर्शनों में की जाती है। महाभाष्य की रचना के परिणामस्वरूप पाणिनीय व्याकरण के अध्ययन की परम्परा और सुलभ हो गयी तथा तत्कालीन अन्य ग्रन्थों की महत्ता अस्तप्राय होने लगी। पतंजलि ने इस ग्रन्थ की रचना में कहीं-कहीं खण्डनात्मक शैली का भी प्रयोग किया है, परन्तु पाणिनीय सूत्रों की इस खण्डनात्मक समीक्षा के पीछे पतंजलि का उद्देश्य पाणिनि का अपमान करना न था, वरन् पाणिनि के प्रति उनके मन में असीम

---

१. संग्रहे प्रतिकच्चुके। वाक्यपदीय, २/४८७।

२. महाभाष्ये हि बहुविधिविद्यावादबलमार्ष व्यवस्थितम्। पुण्यराज वा०प० २/४८८ पर।

श्रद्धा विराजमान थी जिसका उदाहरण उनके ग्रन्थ में आये भगवान्, आचार्यः, मांगलिकः, सुहृद् आदि शब्दों के माध्यम से व्यक्त हुआ है।[१] पतंजलि ने किसी भी प्रयोग के अन्यथासिद्ध हो जाने पर उसे "सिद्धित्येवमपाणिनीयं तु भवति" कहकर उस विधि का परित्याग कर दिया है।[२]

इनके अनुसार पाणिनि ने अपने सूत्रों की रचना अत्यन्त वैज्ञानिकता एवं बुद्धिमत्ता के साथ किया है, अतः उसमें अशुद्धता हो ही नहीं सकती।[३] पतंजलि ने अपने प्रयास द्वारा आचार्य पाणिनि के कौशल की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास किया है तथा स्पष्ट किया है कि आचार्य द्वारा उनके सूत्रों के अतिरिक्त उनके द्वारा इंगित तथा चेष्टित तक से भी आचार्य का अभिप्राय माना जा सकता है।[४] अतः आचार्य पाणिनि के प्रति पतंजलि की इस श्रद्धा को देखकर बहुत से विद्वानों को यह भ्रान्ति हो गयी है कि पतंजलि आचार्य कात्यायन के विरुद्ध पाणिनि के समर्थक थे, इस तथ्य को उस सीमा तक सत्य माना जा सकता है जब मूलतः उन्होंने अपना भाष्य अष्टाध्यायी पर लिखा हो तथा उस प्रसंग में उन्होंने कात्यायन के आक्षेपपरक वार्तिकों का भी खण्डन किया हो।

किन्तु दूसरी ओर महाभाष्य के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि इसमें अष्टाध्यायी के लगभग समस्त सूत्र विद्यमान हैं, भले ही आचार्य ने स्वयं उनके विषय में कुछ भी न कहा हो। डॉ० कीलहार्न तथा कतिपय अन्य विद्वानों की सामान्य धारणा है कि महाभाष्य वार्तिकों पर लिखा गया है।[५] पतंजलि ने अष्टाध्यायी के चौदह प्रत्याहार सूत्रों को मिलाकर कुल ३९९५ सूत्रों में से १६८५ सूत्रों पर भाष्य लिखा है तथा शेष सूत्रों को बिना किसी प्रकार की हानि पहुँचाये उसी प्रकार स्वीकार किया है। डॉ० सत्यकाम वर्मा का मत है कि पातंजल महाभाष्य मूलतः पाणिनि के व्याकरण का ही भाष्य है, यद्यपि उसमें अन्य आचार्यों के वार्तिकों या विचारों को भी पूरे उचित महत्त्व के साथ परखा गया है।[६] डॉ० अग्निहोत्री का मत है कि भाष्यकार ने पाणिनि और कात्यायन दोनों पर एक साथ लिखा है,[७] परन्तु पतंजलि ने महाभाष्य के अनेक सूत्रों में कात्यायन के आक्षेपों से पाणिनि की रक्षा का भी सफल प्रयास किया है। इस कथन से पतंजलि की

---

१. (क) कथं पुनरिदं भगवतः पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तम्? महा० आ० १।
   (ख) मांगलिक आचार्यों वृद्धिशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते। महाभा० १/१/१।

२. महाभाष्य आ० १ वा १८।

३. प्रमाणभूत आचार्यों दर्भपवित्रपाणिः शुचावकारो प्राङमुख उपविश्व महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म। तत्राशक्य वर्णेनात्यनर्थकेन भवितुं किं इयत्ता सूत्रेण। महाभाष्य १/१/१ बा० ७।

४. महा० ६/१/३७।

५. कात्यायन एण्ड पतंजलि पृष्ठ ५१।

६. संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास पृष्ठ २०४।

७. पतंजलिकालीन भारत, पृष्ठ ३२।

पाणिनि के प्रति असीम श्रद्धा परिलक्षित होती है, जिसके आधार पर विद्वत्समाज में यह भी धारणा है कि पतंजलि की स्थिति पाणिनि के प्रति एक उपासक जैसी रही है, जो अपने उपास्य के प्रति पूर्ण आस्था रखता है।

वस्तुतः पतंजलि ने पाणिनि के अष्टाध्यायी के विषय में कहा है कि इस शास्त्र में ऐसा कुछ भी नहीं है जो निरर्थक हो।[१]

इस ग्रन्थ की रचना के पीछे 'विद्वत्समाज' में यह मान्यता है कि पतंजलि के ३०० वर्ष उपरान्त इस ग्रन्थ को उनके ऐसे शिष्यों के हाथों से गुजरना पड़ा जो शुष्क तार्किक थे तथा उन्होंने न्यायबीजों को शुष्क तर्कों के रूप में परिणत कर दिया। चन्द्रा नामक आचार्य ने दक्षिण के किसी पर्वतीय क्षेत्र में प्राप्त हस्तलेख की सहायता से इसका पुनरुद्धार किया है।[२] दक्षिण भारत में व्याकरण के अध्ययन और अध्यापन की परम्परा ब्राह्मणों के काल से ही चली आ रही थी, जिसके परिणामस्वरूप ही दक्षिण भारत में महाभाष्य की सुरक्षा सम्भव हो सकी। अन्य मान्यताओं के अनुसार पतंजलि कभी कश्मीर में रहे होंगे, अतः इसकी प्रति कश्मीर में पहुँची होगी जिससे पतंजलि ने इसके लेखन में अभिरुचि दिखायी। महाराज अभिमन्यु के आदेश से चन्द्राचार्य ने महान् परिश्रम करके दक्षिण देश की प्रतियों से मिलान करके, इसका पुनरुद्धार किया। इतने प्रयासों के पश्चात् भी इसकी पूर्ण सुरक्षा सम्भव न हो सकी। तत्पश्चात् भर्तृहरि के गुरु वसुरात ने चन्द्राचार्य की प्रति तथा दक्षिण की प्रतियों से मिलान करके महाभाष्य का सम्पादन किया।[३] कल्हण के लेखानुसार कश्मीर नरेश जयापीड के समतुल्य महाभाष्य का पुनरुद्धार 'क्षीर' नामक शब्दविद्योपाध्याय द्वारा पूर्ण हुआ है।[४]

महाभाष्य का रचना काल

आचार्य पाणिनि ने एक सूत्र ''अनद्यतने लङ्'' बनाया है। इस सूत्रानुसार अनद्यतन घटना के प्रयोग में लङ् लकार का प्रयोग होता है। कात्यायन ने इसकी सम्यक् व्याख्या करते हुए लिखा है कि जो घटना दर्शन विषयातीत होने पर लोक प्रसिद्ध हो तथा क्रिया-प्रयोग कर्त्ता की दर्शनक्षमता का आश्रय न हो तो उस स्थान पर लङ् लकार का प्रयोग होता है।[५]

---

१. सामर्थ्ययोगान्नहि किञ्चिदत्र पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्। महाभाष्य ६/१/७७।

२. (क) कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरूणा तीर्थदर्शिना। सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्यनिबन्धनाः॥ वाक्यपदीय, २/४८६।

(ख) तच्च भाष्यं न केवलं व्याकरणस्य निबन्धनम्, यावत् सर्वेषां न्याय-बीजानां बोद्धव्यमित्यत एव महत्शब्देन विशिष्य महाभाष्यमित्युच्यते लोके। पुण्यराज टीका, वही, पृष्ठ २, ४८५।

३. वही ४७५-८३।

४. वाक्यपदीय २/४८८-८९।

५. वा० परीक्षे लोकविज्ञाते प्रयोक्तुदर्शनविषये महाभाष्य ३/२/१११।

पतंजलि ने कात्यायन के समर्थन में दो उदाहरण दिये हैं—''अरुणद्यवनः साकेतम्'', ''अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्''[1] पतंजलि के इन दोनों उदाहरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि यवनकर्तृक-आक्रमण घटना उन्हीं के समय में घटित हुई थीं।

पाश्चात्य विद्वान् गोल्डस्टुकर ने इन दोनों उदाहरणों के आधार पर पतंजलि के काल-निर्धारण का प्रयास किया है। तद्नुसार ग्रीकों ने १६० ई०पू० तक ब्राह्मीक पर शासन किया इन ग्रीक राजाओं में मिनान्डर अधिक प्रसिद्ध था, जिसका राज्य यमुना नदी तक फैला हुआ था, जिसका प्रमाण यमुना नदी से प्राप्त इनकी एक नामांकित मुद्रा है। जिससे ज्ञात होता है कि मिनान्डर ने १४४ ई०पू० से २० वर्ष तक शासन किया था।

लासेन ने इसी के आधार पर कहा है कि यदि महाभाष्यकार पतञ्जलि मिनान्डर के समय में विद्यमान रहे हों तो १४० से १२० ई०पू० के बीच में ही सूत्र ३/२/१११ तक महाभाष्य की रचना पूर्ण हो चुकी रही होगी।

पतंजलि द्वारा दिये गये दूसरे उदाहरण में आये माध्यमिकाम् पद द्वारा गोल्डस्टुकर भ्रान्त हो गये, वे इस पद का अर्थ बौद्ध सम्प्रदाय का मानकर 'माध्यमिक' सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य नागार्जुन के साथ मिलकर व्याख्या करते हैं। नागार्जुन कश्मीराधिपति अभिमन्यु के समकालीन थे, जिनका काल ४० ई०पू० से ६५ ई० के मध्य था। अतः इस स्थिति में मिनान्डर द्वारा माध्यमिकाम् द्वारा माध्यमिका अवरोध असम्भावित होगा।

उपरोक्त दोनों उदाहरणों के आधार पर बेवर ने पतंजलि के काल निर्धारण को और अधिक पीछे ले जाने का प्रयत्न किया है।[2] उनका कथन है कि पतंजलि कश्मीराधिपति अभिमन्यु के समय के विशिष्ट प्रतिभाशाली विद्वान् थे। अतः इनके द्वारा स्थापित धर्म-सम्प्रदाय बहुत पूर्व ही स्थापित हो चुका था और इस धर्म-सम्प्रदाय को ४० वर्ष पूर्व ले जाने में सन्देह है; क्योंकि इस समय नागार्जुन बाल्यावस्था में रहे होंगे अतः बचपन में सम्प्रदाय स्थापित करना असम्भव है। लासेन की गणनानुसार अभिमन्यु ने लगभग ४५ ई० में कश्मीर का राज्य शासन सम्भाला था, अतः इस समय अधोलिखित घटनाचतुष्टय घटित हुआ होगा—

१. यवनकर्तृक साकेतावरोध।
२. किसी यवनकर्तृक माध्यमिकसम्प्रदाय का निपीडन।
३. महाभाष्य का प्रणयन।
४. ४५-६६ ई० के मध्यवर्ती समय में अभिमन्यु का भाष्य के विषय में यत्न प्रदर्शन।

---

१. परोक्षे लोकविज्ञाते प्रयोक्तुदर्शनविषये लङ् वक्तव्यः।
अरुणद् यवनः साकेतम्। अरुणद् यवनः माध्यमिकाम्। महा० ३/२/१११।
२. आन दि डेट ऑफ पतंजलि।

यदि इन घटनाक्रमों को ध्यान में रखकर ग्रीक राजाओं को लक्ष्य करके उसी के अर्थ में लें, तो भ्रम की स्थिति पैदा हो जायेगी; क्योंकि लासेन के अनुसार ई०पू० ८५ से ग्रीक राजाओं का अवसान होने लगा था। अतः वहाँ प्रयुक्त यवन शब्द ग्रीक इण्डोनेशिया राजा के प्रति प्रयुक्त हुआ होगा। लेकिन जिस समय साकेत को अयोध्या से अभिन्न कहा जाता है, उस समय प्रसिद्ध इण्डोसीथियन राजा कनिष्क के अतिरिक्त कोई भी अन्य 'पद' वाक्य नहीं हो सकता। लासेन ने कनिष्क का समय १० ई० से ४० ई० तक माना है, इनके अनुसार कनिष्क ने भारत के पूर्व प्रान्त तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया था। अतः तत्कर्तृक अयोध्यावरोध असम्भावित नहीं माना जा सकता, परन्तु द्वितीय घटना को कनिष्क के साथ जोड़ने से असंगति आ जाती है; क्योंकि कनिष्क बौद्ध धर्म मानते थे। ह्वेनसांग के अनुसार कनिष्क प्रारम्भ में बौद्धद्वेषी था अतः माध्यमिक-पीडन असम्भव नहीं है। अतः कनिष्क के समय में ही ये दोनों उदाहरण पतंजलि को प्राप्त हुए। ये दोनों ही घटनाएँ ३५-४५ और ४५-६५ वर्ष के मध्य में घटित हुई होगी। अतः २५ ई० वर्ष में महाभाष्य की रचना और ५५ ई० में इसका कश्मीर जाना प्रमाणित होता है। यदि लासेन की उपरोक्त सभी गणनाएँ सत्य मानी जायें, तो गोल्डस्टुकर द्वारा निर्दिष्ट १४० से १२० ई०पू० को परिवर्तित कर २५ ई० में पतंजलि का आभिर्भाव कहना संगत प्रतीत होता है।[१]

अतः उपर्युक्त सभी तथ्यों से स्पष्ट होता है कि पतंजलि के समयनिर्धारण में गोल्डस्टुकर तथा बेवर दोनों ने पर्याप्त विधान किया है।

'अरुणद् यवनः माध्यमिकाम्' इस तथ्य को ऐतिहासिक घटना मानकर गोल्डस्टुकर ने गम्भीरता के साथ विचार नहीं किया, दूसरी ओर बेवर भी माध्यमिकाम् पद का उचित अर्थ नहीं लगा पायें, अतः पतंजलि के काल निर्धारण में दोनों ही भ्रान्त हो गये।

'अरुणद् यवनः माध्यमिकाम्' पद में प्रयुक्त माध्यमिक पद एक जनपद का वाचक है न कि नागर्जुन द्वारा संस्थापित सम्प्रदाय का। बृहत्संहिता में भी माध्यमिकाम् पद जनपद के अर्थ में ही आया है।

गार्गीसंहिता में अनेक ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख प्राप्त होता है, जिससे भी पता चलता है कि यवनों ने साकेत के मध्यदेश तक अधिकार कर लिया था। यह देश ही माध्यमिक गणों की निवासभूमि थी। गार्गीसंहिता के अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि पाटलिपुत्र के अधिपति शालिल्क के पश्चात् यवनगणों ने साकेत आदि को आक्रान्त कर मध्य देश में शासन किया था।[२] लासेन की गणनानुसार ड्रेमारियस तथा उसके सेनापति एवं दामाद मिनान्डर दोनों ने ही २०५ ई०पू० से १६५

---

१. आन दि डेट ऑफ पतंजलि।

२. गार्गी संहिता।

ई०पू० तक शासन किया था। ये दोनों ही दिग्विजय में कुशल थे अतः इन्होंने भारत के एक बहुत बड़े भाग को अपने अधिकार में कर लिया था। जिससे सिद्ध होता है कि १६५ ई०पू० में भी इन्होंने साकेत और माध्यमिकाम् दोनों पर आक्रमण किया होगा, स्पष्टतः इसी के विषय में पतंजलि का निर्देश है। इन सभी प्रमाणों के अतिरिक्त आचार्य पाणिनि ने 'वर्तमाने लट्'[१] सूत्र के भाष्य के प्रसंग में लिखा हैं कि प्रकृत कार्य पूर्ण न होने तक लट् लकार होता है।[२] पतंजलि ने इस सूत्र पर भाष्य करते हुए ''इह पुष्यमित्रं याजयामः'' उदाहरण दिया है।[३] यज् आदि अनेक धातुएँ उपर्युक्त नियम में उपगत होकर णिजन्त में परिणत हो जाती हैं। भाष्यकार ने भी वार्तिककार का समर्थन करते हुए लिखा है कि ''पुष्यमित्र यज्ञ करता है'' ''याज्ञिक लोग यज्ञ करते हैं''[४] इस प्रकार होना चाहिये। अतः इन दोनों ही उदाहरणों से सिद्ध होता है कि पतंजलि पुष्यमित्र के समकालीन थे।

इनके अतिरिक्त पतंजलि ने अन्य स्थानों पर भी पुष्यमित्र का उल्लेख किया है।[५]

यदि इतिहास और पुराण की ओर दृष्टि डालें तो पता चलता है कि मगध में मौर्य शासक राज्य करते थे। मौर्यों का अन्तिम शासक बृहद्रथ था। जिसकी पुष्यमित्र शुंग ने हत्या कर दी और स्वयं शासक बन बैठा। पुराणों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है।[६] पुष्यमित्र शुंग ने १४० ई०पू० तक शासन किया, अतः इसी समय पतंजलि ने भी इस सूत्र का भाष्य किया होगा। वहीं दूसरी ओर लासेन की गणना से यह तथ्य प्रकाश में आया है कि ग्रीक राजा ड्रेमेटियस १६५ ई० पूर्व में वाह्लीक के सिंहासन पर विद्यमान था, जिसने मिनान्डर के साथ साकेत और माध्यमिका को विजय किया और इनका राज्य समाप्त होने के १३ वर्ष पूर्व ही पुष्यमित्र का राज्यकाल प्रारम्भ होता है; अतः पुष्यमित्र के राज्यकाल अर्थात् १७८ ई०पू० में ड्रेमेटियस भारतविजय के लिए प्रवृत्त हुआ, पतंजलि यवनराज ड्रेमेटियस और शुंग पति पुष्यमित्र के समकालीन १९५-१४२ ई०पू० के मध्यभाग में विद्यमान थे।

महाभाष्य की टीकाएँ

पातंजल महाभाष्य पर अनेक विद्वानों ने टीकाग्रन्थों की रचना की है। उनमें से कतिपय टीकाएँ सम्प्रति अनुपलब्ध हैं। कुछ ही ऐसे टीकाग्रन्थ हैं जो पूर्ण रूप में

१. अष्टाध्यायी ३/२/१२३।
२. प्रकृतस्याविरामे शासितव्या भवन्ति अवर्तमानत्वात्। वार्तिक महाभाष्य २/३/१२३।
३. इहवसामः इह पुष्यमित्रं याजयामः। महाभाष्य ३/२/१२३।
४. यज्ञादिषु विपर्यासोवक्तव्यः, पुष्यमित्रो यजते याजकाः याजयन्तीति तत्र भवितव्यम् पुष्यमित्रों याजयते, याजका यजन्तीति। महाभाष्य ३/२/१२३।
५. सभाराजाऽमनुष्यपूर्वा, अष्टाध्यायी २/४/२३।
६. विष्णुपुराण। ४/२४/३३।

उपलब्ध हैं तथा कुछ का तो केवल निर्देशमात्र मिलता है। बहुत से टीकाकारों के नाम भी अज्ञात हैं। महाभाष्य पर रची गयी जितनी टीकाओं का हमें ज्ञान हों सका है, उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

महाभाष्यदीपिका :—आचार्य भर्तृहरि ने महाभाष्य की एक विस्तृत और प्रौढ़ व्याख्या लिखी है, जिसका नाम 'महाभाष्यदीपिका' है। इस व्याख्या के उद्धरण व्याकरण के अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। उत्तरवर्ती टीकाग्रन्थों में यह ग्रन्थ सबसे प्राचीन और प्रामाणिक माना जाता है। व्याकरण शास्त्र में यह टीका ग्रन्थ 'त्रिपदी' नाम से विख्यात है। इसका केवल सात आह्निक ही इस समय उपलब्ध है। वर्तमान में महाभाष्यदीपिका का सर्वप्रथम परिचय देने का श्रेय डॉ० कीलहार्न को है।

महाभाष्य की प्राचीन अनुपलब्ध टीका के विषय में मीमांसक जी ने लिखा है कि भर्तृहरिकृत महाभाष्य की दीपिका (त्रिपदी) टीका का जितना भी भाग इस समय उपलब्ध है उसके अध्ययन से यही ज्ञात होता है कि उससे पूर्व भी अनेक टीकाग्रन्थ लिखे गये थे, जिनका उल्लेख भर्तृहरि ने अपनी टीका में 'अपरे, अन्ये, केचित्' आदि शब्दों द्वारा किया है, परन्तु टीकाकारों के नाम अज्ञात होने के कारण उनका वर्णन सम्भव नहीं है। भर्तृहरि विरचित महाभाष्य टीका के अवलोकन से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि उससे पूर्व महाभाष्य पर यदि दो या तीन टीका ग्रन्थ उपलब्ध होते तो यह भ्रम दूर हो जाता है।[१] ऋग्वेद के भाष्यकार स्कन्दस्वामी ने निरुक्त की टीका में भाष्यकार के पाठ को उद्धृत कर उस पर किसी अज्ञात नामा टीका का उद्धरण दिया है।[२] जिससे स्पष्ट होता है कि यह भी एक महाभाष्य का टीकाग्रन्थ है।

महाभाष्य-प्रदीप तथा उद्योत :—महाभाष्य के उपलब्ध टीकाग्रन्थों में 'दीपिका' के उपरान्त 'प्रदीप भाष्य' का स्थान आता है। कैयट ने इस टीका ग्रन्थ के प्रारम्भ में लिखा है कि "मैंने यह व्याख्या भर्तृहरिनिबद्ध 'साररूप ग्रन्थसेतु' के आश्रय से रची है।[३]" यहाँ साररूप ग्रन्थसेतु से कैयट का अभिप्राय भर्तृहरिविरचित 'वाक्यपदीय' और 'प्रकीर्णकाण्ड' से है।

कैयट ने सम्पूर्ण प्रदीप में केवल एक स्थान पर भर्तृहरिविरचित 'महाभाष्यदीपिका' की ओर संकेत किया है[४], दीपिका का पाठ कहीं पर उद्धृत नहीं किया गया है जबकि 'वाक्यपदीय' और 'प्रकीर्णकाण्ड' के शतशः उद्धरण महाभाष्य प्रदीप में दृष्टिगोचर होते हैं। इस टीका से कैयट का व्याकरण-विषयक प्रौढ़

१. संस्कृत व्या० शा० का इतिहास, प्रथम भाग, युधिष्ठिर मीमांसक, पृष्ठ ४००।

२. यद्वा सर्वे भावा स्वेन भावेन भवन्ति स तेषां भावः महाभाष्य

महाभाष्य ५/१/११९। निरुक्त १/२ की स्कन्द टीका।

३. तथापि हरिबद्धेन सारेण ग्रन्थसेतुना ....।

४. विस्तरेण भर्तृहरिणा प्रदर्शित ऊहः। नवाह्निक निर्णयसागर संस्करण पृष्ठ २०।

पाण्डित्य स्पष्ट विदित होता है। महाभाष्य जैसे दुरूह विषयको समझने में एकमात्र सहायक 'प्रदीप' ग्रन्थ है। इसके बिना महाभाष्य पूर्णतया समझ में नहीं आ सकता। अत: वैयाकरण सम्प्रदाय में कैयटविरचित 'महाभाष्य प्रदीप' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता इसका संक्षेपीकरण है, इसमें त्रिपदी तथा वाक्यपदीय टीकाओं में निर्दिष्ट मतों का सार समाविष्ट होने के साथ ही साथ भाष्यकारों के स्वयं का कुछ मौलिक चिन्तन भी दिखलायी पड़ता है। 'महाभाष्य प्रदीप' व्याकरण वाङ्मय में विशेष महत्त्व रखता है। इसलिये अनेक विद्वानों ने महाभाष्य की व्याख्या न करके महाभाष्य प्रदीप की व्याख्याएँ रची है। इनमें से रामचन्द्र सरस्वतीकृत (लघु) विवरण, ईश्वरानन्द सरस्वतीकृत (बृहद्) विवरण, अन्नंभट्ट कृत उद्योतन, नारायण शास्त्रीकृत प्रदीप विवरण (अध्याय ३-६ तक), धर्मराजयज्वा के शिष्य नारायण शास्त्रीकृत प्रदीपव्याख्या तथा शिवरामेन्द्र सरस्वतीकृत सिद्धान्त रत्न प्रकाश (जो कैयट की व्याख्या नहीं है, सीधे भाष्य की व्याख्या है) सहित 'महाभाष्य प्रदीप व्याख्यानानि' के नाम से पाण्डिचेरी स्थित 'Institute Franchais D' 'Indologie' संस्थान प्रकाशित कर रहा है।

इन टीकाग्रन्थों में नागेश भट्ट कृत प्रदीपोद्योत का स्थान महत्त्वपूर्ण है, जिसका अपरनाम 'विवरण' है। यह 'प्रदीप' का व्याख्या ग्रन्थ होने के साथ ही साथ महाभाष्य का अनुगामी स्वतन्त्र मौलिक ग्रन्थ है। केवल महाभाष्य का अभिप्राय स्पष्ट करना ही इस ग्रन्थ का लक्ष्य नहीं है यह तो प्रदीप से ही पूर्ण हो जाता है, किन्तु महाभाष्य में जहाँ कुछ बातें अस्पष्ट रह गयी हैं, उसे भी इसमें नागेश भट्ट ने सोदाहरण समझाया है। प्रदीपोद्योत के अध्ययन से प्रतीत होता है कि नागेशभट्ट वैयाकरण की सीमा से उठकर दार्शनिक बनने के इच्छुक हैं।

शब्द कौस्तुभ :—नागेशभट्ट कृत प्रदीपोद्योत के पश्चात् महाभाष्य के अन्य टीकाग्रन्थों में भट्टोजिदीक्षितकृत 'शब्दकौस्तुभ' का स्थान आता है। शब्द कौस्तुभ महाभाष्य का केवल टीकाग्रन्थ नहीं है, अपितु यह अपने स्वयं के व्यक्तिगत वैशिष्ट्य के कारण अपना एक पृथक् महत्त्व रखता है। इसमें महाभाष्य की विषय-विभाग शैली को अपनाकर भी उसके प्रत्येक पंक्ति पर टिप्पणी नहीं की गयी है अपितु इसके व्याख्या हेतु त्रिपदी तथा वाक्यपदीय ग्रन्थ से भी यथास्थान सहायता ली गयी है। अपने अलग वैशिष्ट्य के कारण ही मीमांसक जी इसको अष्टाध्यायी का वृत्ति ग्रन्थ स्वीकार करते हैं।[१] महाभाष्य का अनुगामी शैली वाला टीकाग्रन्थ होने के कारण डॉ० वर्मा ने इसे महाभाष्य के टीकाग्रन्थों में परिगणित किया है।[२] यह वृत्ति इस समय सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं है, केवल प्रारम्भ के ढाई अध्याय और चतुर्थ अध्याय ही उपलब्ध होते हैं।

---

१. संस्कृत व्याकरण शा० का इतिहास, प्र० भाग पृष्ठ ४४८।

२. व्याकरण शास्त्र का उद्भव और विकास, पृष्ठ २४७।

अष्टाध्यायी भाष्यम् :—स्व स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत 'अष्टाध्यायी भाष्यम्' का आधार महाभाष्य है, अतः इसे महाभाष्य का टीकाग्रन्थ भी माना जा सकता है। महाभाष्य के सम्पूर्ण निष्कर्षों को ध्यान में रखकर ही सूत्रों की व्याख्या की गयी है तथा सूत्रों की व्याख्या में भी उसी शैली को अपनाया गया है। अतः इसी शैली के आधार पर डॉ० वर्मा उन्हें भाष्य के टीकाकारों में स्वीकार करते हैं।

प्राणपणा :—पुरुषोत्तमदेव ने महाभाष्य की 'प्राणपणा' नाम की एक लघुवृत्ति लिखी थी। 'प्राणपणा' का सर्वप्रथम परिचय देने का श्रेय पं० दिनेश चन्द्र भट्टाचार्य को दिया जाता है।[१] पुरुषोत्तमदेव ने महाभाष्य और अष्टाध्यायी की व्याख्याओं के मंगल श्लोक में 'बुद्ध' को नमस्कार किया है।[२] भाषावृत्ति में अन्यत्र भी बौद्धदर्शन और महाबोधि के प्रति आदरभाव सूचित किया है।[३] इससे स्पष्ट है कि पुरुषोत्तमदेव बौद्धमतानुयायी था।

भाष्यवृत्ति के व्याख्याता शंकर पण्डित ने लिखा है—

'अथ भाष्यवृत्तिव्याचिख्यासुर्देवो विघ्नविनाशाय सदाचार परिमिष्टदेवतामति स्वरूपं मंगलमाचचार। तत्पद्यं यथा—

नमो बुधाय बुद्धाय यथात्रिमुनिलक्षणम्।

विधीयते प्राणपणा भाषायां लघुवृत्तिका। इतिदेव।'

शंकरविरचित व्याख्या के टीकाकार मणिकण्ठ ने देवकृत व्याख्या का नाम 'प्राणपणित' लिखा है।[४] पुरुषोत्तमदेव बंगप्रान्तीय वैयाकरणों में प्रामाणिक व्यक्ति माने जाते हैं। अष्टाध्यायी की भाषावृत्ति में प्रत्याहारों के परिगणन में अश् हश् वश् झश् जश् पुनर्बश् आदि वाक्यों में 'पुनः' पद के प्रयोग से इनके बंगप्रान्त के निवासी होने का पता चलता है; क्योंकि बंगप्रान्त में 'ब' और 'व' का उच्चारण समान अर्थात् पवर्गीय 'ब' होता है। अतः इन्होंने उच्चारणजन्य पुनरुक्तदोषपरिहारार्थं 'पुनः' शब्द का प्रयोग किया है।

चिन्तामणि :—पं० धनेश्वर ने महाभाष्य की चिन्तामणि नाम्नी टीका लिखी है। इनका एक नाम धनेश भी है। इन्होंने 'चिन्तामणि' के अतिरिक्त 'प्रक्रियामणि' नामक नया व्याकरण ग्रंथ और पद्मपुराण के एक स्तोत्र पर टीका लिखी थी। महाभाष्यटीका का उल्लेख श्री पं० गुरुपद हालदार ने अपने 'व्याकरण दर्शनरे

---

१. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली सेप्टेम्बर १९४३, पृष्ठ २०१ तथा वीरेन्द्र रिसर्च म्यूजिम राजशाही, बंगाल (वर्तमान में बंगलादेश) से मुद्रित पुरुषोत्तमदेव विरचित परिभाषा वृत्ति के अन्त में ये सब अंश विस्तार से छपे हैं।

२. महा०—नमो बुद्धाय बुद्धाय। भाषावृत्ति—नमो बुद्धाय..........।

३. जिन धातु ३/३/१६३। न दोषप्रति बौद्धदर्शने २/२/९। महाबोधि गन्तास्म ३/३/११७। प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने १/४/३२।

४. श्री देवव्याख्यात प्राणपणित भाष्य ग्रन्थस्य.....। इ० हि० क्वार्टर्ली पृष्ठ ३०३।

इतिहास' नामक पुस्तक के पृष्ठ ४५७ पर किया है। धनेश्वर को बोपदेव का गुरु माना जाता है। बोपदेव का काल विक्रम की १३वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध स्वीकार किया गया है।

सूक्तिरत्नाकर :—शेषवंशावतंस नारायण ने महाभाष्य की 'सूक्तिरत्नाकर' नाम्नी एक प्रौढ़ व्याख्या लिखी है। इसके हस्तलेख अनेक पुस्तकालयों में विद्यमान हैं। बड़ौदा के 'राजकीय प्राच्यशोध हस्तलेख पुस्तकालय' में इस व्याख्या का एक हस्तलेख 'फिरिंदाप भट्ट' कृत महाभाष्य-टीका के नाम से विद्यमान है।

क्षीरोद :—विष्णुमिश्र नाम के किसी वैयाकरण ने महाभाष्य पर 'क्षीरोद' नामक टिप्पणी लिखी थी। इसका उल्लेख हमें शिवरामेन्द्र सरस्वती विरचित महाभाष्यटीका[1] और भट्टोजिदीक्षित कृत शब्दकौस्तुभ[2] में मिलता है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त क्षीरोद का उल्लेख अन्यत्र कही नहीं मिलता है, जिसके कारण इसके काल निर्धारण में कठिनाईयाँ हैं। भट्टोजिदीक्षित का काल अधिक-से-अधिक १५५०-१६५० वि० तक है। अत: इनका काल भी उसी के समीप रहा होगा।

भाष्यतत्त्वविवेक :—नीलकण्ठ वाजपेयी ने महाभाष्य की 'भाष्यतत्त्वविवेक' नाम्नी व्याख्या लिखी है। जिसका हस्तलेख 'मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय' के सूचीपत्र भाग २ खण्ड १ ए पृष्ठ १६१२, ग्रन्थांक १२८८ पर निर्दिष्ट है। इस हस्तलेख के अन्त में टीकाकार का नाम 'नीलकण्ठ यज्वा' लिखा है।

सिद्धान्तरत्नप्रकाश :—शिवरामेन्द्र सरस्वती ने महाभाष्य पर 'सिद्धान्तरत्न-प्रकाश' नाम्नी एक सरल सुबोध शैली में व्याख्या लिखी है। यह व्याख्या महाभाष्य के अध्येताओं के लिए विशेष उपयोगी है।

सिद्धान्तरत्नप्रकाश में स्थान-स्थान पर कैयट की व्याख्या का खण्डन किया गया है तथा कैयट का प्रधान आधार भर्तृहरिकृत महाभाष्यदीपिका तथा वाक्यपदीय ग्रन्थ है। दूसरी ओर कैयट के प्रत्याख्यानस्थलों में परम्परागत भर्तृहरि के मत का भी खण्डन इसमें अनेक स्थलों पर किया गया है। कहीं-कहीं महाभाष्यदीपिका तथा वाक्यपदीय का प्रत्यक्षरूप से भी खण्डन है। अनेक स्थानों पर शिवरामेन्द्र सरस्वती का चिन्तन अत्यन्त गम्भीर है तथा कई स्थानों पर परम्परा से हटकर किया गया चिन्तन भी मिलता है।

विद्वन्मुखभूषण :—'प्रयागवेंकटाद्रि' नाम के पण्डित ने महाभाष्य पर 'विद्वन्मुखभूषण' नाम्नी टिप्पणी लिखी थी। इसका एक हस्तलेख 'मद्रास राजकीय पुस्तकालय' के सूचीपत्र भाग २, खण्ड १६, पृष्ठ २३४७, ग्रन्थांक १६५१ पर

---

१. तदिदं सर्वं क्षीरोदाख्ये त्रैलिंगतार्किकविष्णुमिश्रविरचितमहाभाष्यटिप्पणे स्पष्टम्। काशी सरस्वती भवन का हस्तलेख, पत्रा। प्रदीपव्याख्यानानि, भाग २, पृष्ठ ५७।

२. ह य व र ट् सूत्रे क्षीरोदकारोऽप्याह। शब्दकौस्तुभ १/१/८, पृष्ठ १४४।

निर्दिष्ट है तथा दूसरा अडियार के पुस्तकालय में है। उसके सूचीपत्र खण्ड २ पृष्ठ ७४ पर ग्रन्थ का नाम 'विद्वन्मुखमण्डन' लिखा है।

अन्य टीकाग्रन्थ

महाभाष्य की इसी टीकापरम्परा में श्री वसुदेव अभ्यंकर शास्त्री ने मराठी भाषा में महाभाष्य की टीका प्रकाशित की है। पं० मधुसूदन प्रसाद मिश्र कृत महाभाष्य तथा प्रदीप व्याख्या का अनुवाद चौखम्बा संस्कृत सिरीज काशी से प्रकाशित हुआ है।

इसके अतिरिक्त हिन्दी भाषा में पं० चारुदेव शास्त्रीकृत महाभाष्य का अनुवाद ग्रन्थ नवान्हिक पर्यन्त प्रकाशित हुआ है। श्री रूद्रधर झा द्वारा प्रणीत तत्त्वालोक में महाभाष्य प्रदीप तथा उद्योत की व्याख्या की गयी है, जो कि महाभाष्य के नवाह्निक पर्यन्त चौखम्बा से ही प्रकाशित हुई है। इसी क्रम में रामलाल कपूर ट्रस्ट सोनीपत, हरियाणा ने श्री युधिष्ठिर मीमांसककृत महाभाष्य की बहुत अच्छी व्याख्या प्रकाशित की है, जो कि समस्त दुरूहता को सरलतम बना देती है।

महाभाष्य के उपर्युक्त टीकाग्रन्थों के अतिरिक्त मैत्रेय का अज्ञातनामा, नीलकण्ठ वाजपेयी का 'भाष्यतत्त्वविवेक' शेषविष्णु का 'महाभाष्य-प्रकाशिका', गोपालकृष्ण शास्त्री का 'शाब्दिकचिन्तामणि' नामक 'महाभाष्यटीकां, तिरूमलयज्वाकृत अनुपदा, नारायणभट्ट का भाष्यविवरण, सर्वेश्वर दीक्षित का महाभाष्य स्फूर्ति, राजन्सिंहकृत शब्दबृहती नाम्नी महाभाष्यव्याख्या, नारायणविरचित महाभाष्य-विवरण। सदाशिव नामक विद्वान् कृत महाभाष्य-गूढ़ार्थ-दीपिनी नाम्नी एक व्याख्या, 'राघवेन्द्राचार्य गजेन्द्रगढ़कर' की महाभाष्य की व्याख्या, छलारी नरसिंहाचार्य के शाब्दिक-कण्ठमणि नामक महाभाष्य की टीकाओं का उल्लेख प्राप्त होता है।'

महाभाष्य के रचयिता एवं उनका परिचय

पतंजलि ने महाभाष्य जैसे विशालकाय ग्रन्थ में अपना किंचिन्मात्र भी परिचय नहीं दिया है। रामभद्रदीक्षित कृत 'पतंजलिचरितम्' नामक काव्य की कथावस्तु के अनुसार पतंजलि शेषनाग के अवतार थे। अतएव इन्हें अहिपति, फणभृतांभर्ता अथवा शेष का अवतार भी कहा जाता है इसीलिए महाभाष्य को फणिभाष्य भी कहा जाता है। जिससे प्रतीत होता है कि ये नागदेश में उत्पन्न हुए थे। विदिशा से ग्वालियर तक के प्रदेश में नागवंश का शासन सदियों तक रहा है। जिन्हें पहले शुंगों ने बाद में गुप्तों ने पराजित किया है। विदिशा शुंगों की प्रान्तीय राजधानी थी। 'पतंजलिचरितम्' के अनुसार पतंजलि भगवान् विष्णु के आशीर्वाद से शिव के नृत्यदर्शन की लालसा से पृथ्वी पर अवतरित हुए थे। एक गोणिका नाम मुनिकन्या पुत्र प्राप्ति हेतु तपस्या में लीन थी। वह सूर्य को अर्घ्य दे रही थी, तभी ये उसकी अंजलि से नीचे गिर पड़े। अत: इनकी माता ने इनका नाम पतंजलि रख दिया। बाल्यावस्था में ही शिव की तपस्या करके शिवनृत्य के दर्शन किये तथा शिव ने ही उन्हें पदशास्त्र वार्तिकों का

भाष्य करने का आदेश दिया। इसी के पालन हेतु पतंजलि गुप्तरूपेण आवरण डालकर शेषरूप में भाष्य का प्रशिक्षण अपने शिष्यों को देते थे। किसी छात्र ने उत्सुकतावश पर्दा उठा दिया, जिससे सभी छात्र भस्म हो गये। केवल एक छात्र जो बाहर था शेष रह गया। उसने बिना आज्ञा बाहर जाने के कारण राक्षस शरीर प्राप्त किया, परन्तु बहुत प्रार्थना करने पर पतंजलि ने उसे शापनिवृत्ति का उपाय बताकर तिरोहित हो गये। उसके पश्चात् उन्होंने योगसूत्र तथा वैद्यकशास्त्र पर वार्तिकों की रचना की तथा गोनर्द देश जाकर अपनी माता को प्रणाम कर शेषरूप को प्राप्त हो गये।

'पतंजलिचरितम् एक काव्य ग्रन्थ है अतः इसमें कल्पना का कुछ मिश्रण अवश्य होगा, किन्तु इस कथावस्तु के अध्ययन से इतना तो स्पष्ट है कि पतंजलि गोनर्द देश के निवासी थे तथा इनकी माता का नाम गोणिका था। जबकि प्रदीपकार, उद्योतकार, कामसूत्रकार तथा राजशेखर के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थकार, पतंजलि को गोनर्दीय से अलग मानते हैं। सम्भवतः आज के इलाहाबादी, जयपुरी या बीकानेरी के समान पतंजलि का भी गोनर्दीय नाम प्रसिद्ध था। गोनर्द की पहचान में विद्वानों में मतभेद है। गोनर्द देश वर्तमान गोंडा जिले के आसपास का प्रदेश माना जाता है, किन्तु पालिग्रन्थों में उज्जैन तथा विदिशा के मध्य गोनर्द बताया गया है। उज्जैन से विदिशा के सीधे मार्ग में इतना प्राचीन स्थल वर्तमान 'गोंदरमऊ गाँव' है। भाषाविदों के अनुसार गोनर्द शब्द ही परवर्ती काल में गोंदर बन गया होगा। गोंदरमऊ भोपाल से नौ किमी० उत्तर पश्चिम में छोटा-सा गाँव है। जहाँ से २३५ से ३४८ ई० के ५१ सिक्के प्राप्त हुए हैं। जिन पर शक राजाओं के नाम अंकित हैं। ये राजा-विजसेन, भर्तृदास, विश्वसेन, रुद्रसेन तृतीय हैं। इनमें से नौ सिक्के पढ़े नहीं जा सके हैं। इन सिक्कों से स्पष्ट होता है कि यह स्थल दीर्घकाल तक एक मण्डी था। यह स्थान शुंगों की राजधानी विदिशा से अधिक दूर नहीं है। गाँव से उत्तर की ओर ८ किमी० दूर इलाली नदी के किनारे किशनखेडी नामक गाँव है। जो विष्णुक्षेत्र का ही तद्भव शब्द है। शुंग वैष्णव माने जाते हैं वहीं आचारपुरा है। यह आचारपुरा गाँव सम्भवतः आचार्यपुरम् का तद्भव है। जो आचार्य पतंजलि की स्मृति में बसा होगा ऐसा अनेक विद्वानों का मत है। पतंजलि को गोणिकापुत्र भी कहा जाता है। कामसूत्र में भी इन्हें गोणिकापुत्र कहा गया है। महाभाष्य में आये 'गो' शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका तद्भव बताते हैं कि पतंजलि की माता का गोणिका नाम गो शब्द के अप्रभ्रंश गोणी से ही बना है। गोंदरमऊ से एक किमी० दक्षिण में गोणीपुरा गाँव आज तक विद्यमान है जो पतंजलि की माता गोणिका तथा पतंजलि द्वारा प्रयुक्त गोणी शब्द की याद दिला देता है।'

साथ ही यहाँ से प्राप्त बुद्ध की प्रतिमाओं से भी पतंजलि के गोंदरमऊ जन्मस्थान होने की बात प्रामाणित होती है।

●●●

तृतीय अध्याय
संस्कृत-व्याकरण तथा उसका दार्शनिक आधार

१. व्याकरणशास्त्र का वेदांगत्व

पाणिनीय शिक्षा में प्रतिपादित छः वेदांगों में व्याकरण को प्रमुख माना जाता है। वेद के अध्ययन से ही ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है।[१] अतः पतंजलि ने आगम वाक्य में लिखा है कि ''ब्राह्मण को निष्कारण ही छः अंगों सहित वेद का अध्ययन करना चाहिये तथा षडांगों में व्याकरण प्रधान है।''

भारतीय मनीषियों की मान्यता है कि विभिन्न दुःखों से परिपूर्ण इस संसार में दुःखों से मुक्त कराने वाला, कर्मोपासना तथा अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि के हेतुभूत धर्मसाधन के रूप में वेद ही प्रमुख आधार है। पतंजलिकृत महाभाष्य के अनुशीलन से भी यही बात स्पष्टतया विदित होती है कि वेद मन्त्रों के अर्थ की प्रतीति तथा विभिन्न अनुष्ठानों में मन्त्रों के उचित विनियोग हेतु व्याकरण का अध्ययन परमावश्यक है। इसी कारण व्याकरण को वेदांग की कोटि में माना जाता है।

व्यास जी का भी यही मत है कि व्याकरण सभी प्रकार के अर्थों की व्याख्या तथा शब्दों की शुद्धि-अशुद्धि का नियमन करता है।[२]

भर्तृहरि ने व्याकरण को वेद का परमावश्यक अंग मानते हुए उसे दृष्ट एवं अदृष्ट फल देने वाला उत्तम तप माना है।[३]

राजशेखर ने शब्दों के अन्वाख्यान को व्याकरण कहा है।[४] पतंजलि ने महाभाष्य की प्रथम पंक्ति में ''अथ शब्दानुशासनम्'' यह उल्लेख किया है, जो कि वस्तुतः ''अथ व्याकरणम्'' का ही पर्यायवाची प्रतीत होता है। कैयट ने शब्दानुशासन पद का भाव स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ''यह शब्दानुशासन पद व्याकरण का अन्वर्थ नाम है।''[५] अतः शब्दों की परिगणना करना अथवा उनके निर्माण के तथाकथित नियमविधान करना ही व्याकरण का लक्ष्य नहीं है, अपितु शब्दसम्बन्धी पूर्ण ज्ञातव्य तथ्यों का व्याख्यान करना भी व्याकरण का कार्य है।

---

१. पाणिनीय शिक्षा।
२. महाभारत, उ०प्र० ४३, ६१।
३. वाक्यपदीयम् १, ११।
४. काव्य मीमांसा, अध्याय ८।
५. प्रदीप महाभाष्य आ० १।

अनु उपसर्ग पूर्वक शासु अनुशिष्टौ धातु से करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय लगकर निष्पन्न अनुशासन शब्द का अर्थ है—वह विद्या जिसके द्वारा (भाषा का) नियमन किया जाय—उसे विकृति से सुरक्षित रखा जाय। जिसके द्वारा भाषा में पदरचना और वाक्यरचना में परस्पर सम्बन्ध बना रहता है तथा उसको हृदयंगम कराना ही व्याकरण का कार्य है।

२. व्याकरण के अध्ययन का प्रयोजन

प्रत्येक शास्त्र का कोई न कोई प्रयोजन होता है अतः पाठकों को शास्त्रों को पढ़ने में प्रवृत्त करने के लिये प्रयोजनों का निर्देश करना आवश्यक होता है; क्योंकि जब तक पाठक को यह ज्ञान नहीं होगा कि इसको पढ़ने से क्या लाभ और क्या हानियाँ हैं तब तक वह उसकी ओर स्वतः प्रवृत्त नहीं होगा।

महर्षि पाणिनि के ऊपर कुछ लोगों ने यह आक्षेप लगाया है कि उन्होंने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में उनके प्रयोजनों का निर्देश नहीं किया है। जैसा कि श्रुतिवचन में कहा गया है कि **'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्ययो ज्ञेयश्च'** अर्थात् ब्राह्मण को बिना किसी प्रयोजन के छः अंगों से सम्पन्न वेद का अध्ययन करना चाहिये। अतएव सम्भवतः पाणिनि ने अपने शास्त्र के आरम्भ में उसके प्रयोजनों का निर्देश न किया हो। इसके अतिरिक्त व्याकरण का वेदांगों में महत्त्वपूर्ण स्थान है, अतः वेदाध्ययन के प्रयोजनों में ही उसके भी प्रयोजनों का समावेश हो जाता है। यह भी एक हेतु हो सकता है जिसके कारण पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन में व्याकरण के प्रयोजनों का उल्लेख नहीं किया हो।

इसी के निराकरण हेतु 'पातंजल महाभाष्य' में महामुनि पतंजलि ने व्याकरण के अध्ययन के पाँच प्रयोजन इस प्रकार बताये हैं[१]—रक्षा, ऊह, आगम, लघु तथा असन्देह अर्थात् वेद मन्त्रों के अर्थ की रक्षा के लिये, मन्त्रों में लिंग, विभक्ति आदि के विनियोग के लिये, शास्त्रों की रक्षा के निमित्त, शब्द ज्ञान में लघुतम उपाय के लिये तथा सन्देह निवारणार्थ व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है।

उपर्युक्त मुख्य पाँच प्रयोजनों के अतिरिक्त पतंजलि ने व्याकरण के तेरह आनुषंगिक प्रयोजनों का भी उल्लेख किया है।[२] वे हैं—अपभाषण से रक्षा, स्वर-वर्ण दोष से रक्षा, सार्थक पाठ, फ़ल प्राप्ति, सामाजिक शिष्टाचार, अवसरानुकूल विभक्ति का प्रयोग यज्ञादि नित्यकर्म, भाषा का ज्ञान, वाक्-नियम, स्वाध्याय, जन्म से आवश्यकता, सत्य भाषण तथा सुभाषण।

पाणिनि पूर्व वैयाकरण

संस्कृत व्याकरण का मूल पाणिनि से पूर्व विद्यमान था। भारतीय इतिहास में सभी विद्याओं का आदि प्रवक्ता ब्रह्मा को कहा गया है, तदनुसार व्याकरणशास्त्र का आदि प्रवक्ता भी ब्रह्मा हैं। ऋक्तन्त्रकार ने लिखा है—

---

१. रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्। महा० आ० १।

२. महाभाष्य आ० १।

ब्रह्माबृहस्पतये प्रोवाच बृहस्पतिरिन्द्राय इन्द्रो भरद्वाजाय भरद्वाज ऋषिभ्य: ऋषयो ब्राह्मणेभ्य: ॥

इस वचनानुसार व्याकरण के एकदेश अक्षरसमाम्नाय का सर्वप्रथम प्रवक्ता ब्रह्मा हैं। यद्यपि उत्तरकाल में यह नाम उपाधि रूप अनेक व्यक्तियों के लिये प्रयुक्त हुआ है, किन्तु सर्वविद्याओं का आदि प्रवक्ता प्रथम ब्रह्मा ही हैं और वह निश्चित ही ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। उत्तरवर्ती समस्त प्रवचन ब्रह्मा के आदि प्रवचन के अनुसार ही हुआ है। उत्तरवर्ती यह प्रवचन अनुशास्त्र, अनुतन्त्र अथवा अनुशासन[१] कहलाता भी है। इसके लिये 'शास्त्र' अथवा 'तन्त्र' शब्द का प्रयोग गौणवृत्ति से किया जाता है।[२]

ऋक्तन्त्र के अनुसार व्याकरणशास्त्र का द्वितीय प्रवक्ता बृहस्पति हैं। बृहस्पति ने अनेक शास्त्रों का प्रवचन किया है। वेदांगों के अन्तर्गत व्याकरणशास्त्र के प्रवचन का उल्लेख अनेक ग्रन्थों में मिलता है। महाभाष्य के अनुसार बृहस्पति ने इन्द्र को दिव्य सहस्र वर्ष तक प्रतिपद व्याकरण का उपदेश दिया था।[३] भर्तृहरि ने महाभाष्य की व्याख्या में लिखा है—**'शब्दपारायणं' रूढिशब्दोऽयं कस्यचिद् ग्रन्थस्य।** इससे प्रतीत होता है कि बृहस्पति के व्याकरणशास्त्र का नाम शब्दपारायण था। पातंजलमहाभाष्य से विदित होता है कि बृहस्पति[४] ने इन्द्र के लिये प्रतिपद-पाठ द्वारा शब्दोपदेश किया था।[५] उस समय तक प्रकृति-प्रत्यय विभाग नहीं हुआ था।

सर्वप्रथम इन्द्र ने ही शब्दोपदेश की प्रतिपदपाठ-रूपी प्रक्रिया की दुरूहता को समझा और उसने पदों के प्रकृति-प्रत्यय विभाग द्वारा शब्दोपदेश प्रक्रिया की संकल्पना की। जिसका साक्ष्य तैत्तिरीय संहिता ६/४/७ में मिलता है—वाणी पुराकाल में अव्याकृत बोली जाती थी देवों ने इन्द्र से कहा कि इस वाणी को व्याकृत अर्थात् प्रकृति प्रत्ययादिसंस्कार से युक्त करो।.........इन्द्र ने उस वाणी को मध्य को तोड़ कर

---

१. 'अनुशासन' शब्द में प्रयुक्त 'अनु' उपसर्ग अनुक्रम और हीन दोनों अर्थों का द्योतक हैं। उत्तरवर्ती तन्त्र संक्षिप्त होने से पूर्व तन्त्रों की अपेक्षा हीन हुए। 'अनुशाकटायनवैयाकरणा:' 'अनु' शब्द हीन अर्थ का द्योतक है। द्र०-'हीने' (१/४/८६) सूत्र की काशिका।

२. तन्त्रमिव तन्त्रम्।

३. ''बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्त्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच (१/१/१)।'' यह अर्थवाद हैं। इसका तात्पर्य सुदीर्घकाल में है। अर्थवाद के रूप में 'दिव्य सहस्र वर्ष' भारतीय-वाङ्मय में बहुधा व्यवहृत होता है यथा—स (प्रजापति:) भूम्यां शिर: कृत्वा दिव्यं वर्षसहस्त्रं तपोऽतप्यत। कठ ब्रा० संकलन, अग्न्याधेय ब्रा०, पृष्ठ १७। दिव्यं सहस्त्रं वर्षाणाम्। चरक चि० ३/१५। दिव्यवर्षसहस्त्रकम् रामायण बाल० ३९/११। तथा हि श्रूयते दिव्यं वर्ष सहस्त्रममुया सह.........। कामसूत्रटीका १/१/८।

४. यही बृहस्पति देवों का पुरोहित था। इसने अर्थशास्त्र की रचना की थी। यह चक्रवर्ती मरुत् से पहले हुआ था। द्र०-महा० ७५/६।

५. ब्रहस्पतिरिन्द्राय द्रिव्यं वर्षसहस्त्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच। महाभाष्य आ० १, पा० २, आ० १।

व्याकृत (प्रकृतिप्रत्ययादि संस्कार से युक्त) किया।[१] यही तथ्य दूसरे वैदिक ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है।[२] 'गोपथ ब्राह्मण' में 'धातु', 'प्रतिपदिक' आदि संज्ञाओं का परिगणन है, जिससे स्पष्ट पता चलता है कि उत्तर वैदिक काल में 'व्याकरण वेदांग' का कोई न कोई परिनिष्ठित रूप विद्वानों के समक्ष आ चुका था।[३]

पाणिनि से पूर्व 'भागुरि' नामक वैयाकरण हो चुके थे जो 'वाच्', 'निश्', 'दिश्' के स्थान पर 'वाचा', 'निशा', 'दिशा' को साधु मानते थे। वे सभी हलन्त स्त्रीलिंग को आकारान्त बनाने के पक्षपाती थे। इसी प्रकार वे 'अव' और 'अपि' के स्थान पर 'व' और 'पि' प्रयोग मान्य करते थे, जैसे—'अवगाह' का 'वगाह' 'अपिधान' का 'पिधान' आदि।[४] भागुरि के नाम से बहुत-सी कारिकायें भी यत्र-तत्र उद्धृत मिलती हैं।[५] कात्यायन ने एक वार्तिक में पौष्करसादि नामक वैयाकरण का उल्लेख किया है।[६] 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' ५/४० के 'माहिषेय भाष्य' में इन्हें 'कृष्ण यजुर्वेद' की एक शाखा का प्रवर्तक माना गया है। पाणिनि से पूर्व आपिशलि, काशकृत्स्न, माध्यन्दिन आदि ऐसे वैदिक शाखाओं के प्रवर्तक आचार्य हो चुके हैं, जिनका नाम वैयांकरणों में अति प्रचलित है। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में दस प्राचीन आचार्यों का नाम-निर्देश पूर्वक उल्लेख किया है—आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक और स्फोटायन।[७] इन सब में से कुछ के व्याकरण सम्बन्धी तथ्य प्रामाणिक ग्रन्थों में उद्धृत भी मिलते हैं। पाणिनि ने इनका स्मरण बड़े आदर के साथ किया है। व्याकरण का स्फोटदर्शन स्फोटायन के साथ जोड़ा जाता है। इसके अतिरिक्त पाणिनि से प्राचीन १६ आचार्यों का उल्लेख विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है जिनके नाम है—शिव=माहेश्वर, बृहस्पति, इन्द्र, वायु, भरद्वाज, भागुरि, पौस्करसादि, चारायण, काशकृत्स्न, शान्तनव, वैयाघ्रपाद, मध्यन्दिनि, रौढ़, शौनकि, गौतम और व्याडि। इसके अतिरिक्त प्रातिशाख्य आदि ग्रन्थों में ५९ प्राचीन आचार्यों का उल्लेख मिलता है। यद्यपि प्रातिशाख्यों में शिक्षा तथा छन्द का समावेश भी है तथापि इन प्रातिशाख्यों को वैदिक व्याकरण कहा जा सकता है। अतः प्रातिशाख्य ग्रन्थों में स्मृत आचार्य भी अवश्य ही व्याकरण के प्रवक्ता रहे होंगे।

---

१. तैत्तिरीय संहिता, ६/४/७, व्याकरण शास्त्र का इतिहास पृष्ठ ६२ पर।
२. मैत्रायणी संहिता, ४/५/८, शतपथ ब्रा०, ४/१/३।
३. गोपथ ब्राह्मण, पूर्व भाग १/२४।
४. महाभाष्य, ४/१/१ तथा सिद्धान्त कौमुदी, अव्यय प्रकरण।
५. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास पृष्ठ १८।
६. महाभाष्य ८/४/४८।
७. अपिशलि अष्टा० ६/१/९२, काश्यप अ० १/२/१५, गार्ग्य अ० ६/३/२०, गालव अ० ७/१/७४, चाक्रवर्मण अ० ६/१/१३०, भारद्वाज अ० ६/२/६३, शाकटायन अ० ३/४/१११। शाकल्य अ० १/१/१६, सेनक अ० ५/४/१/२, स्फोटायन ३/१/१२३।

इनकी गणना करने पर पुनरुक्त नामों को छोड़कर लगभग ८५ प्राचीन-व्याकरण-प्रवक्ता आचार्यों के नाम विभिन्न स्रोतों से ज्ञात होते हैं।

पाणिनि सूत्र ६/२/८६ के अनुसार पाणिनि के समय में और उससे पूर्व प्रसिद्ध पाठशालाओं के नाम परिगणित है—छत्रिशाला, पेलिशाला, भाण्डिशाला, व्याडिशाला, आखण्डिशाला, आटिशाला और गोमिशाला। इतना ही नहीं कि ये शालाएँ प्रचलित थीं, इनके आदि स्वर का उदात्त उच्चारण भी होता था। जैसा कि उक्त सूत्र से स्पष्ट है। इनमें व्याडि तो पाणिनि के समसामयिक प्रसिद्ध वैयाकरण हैं जो द्रव्य को पदार्थ मानने के लिये प्रसिद्ध हैं।

इन सभी विवरणों से स्पष्ट है कि पाणिनि से पूर्व एक विशाल वैयाकरण परम्परा थी जिसे अखण्डाकाराकारित मानकर पाणिनि एक प्रतीक बन जाते हैं, व्यक्ति नहीं। अतएव 'पाणिनीय शिक्षा' के अन्त में आता है—''**तस्मै पाणिनये नमः।**''

४. व्याकरण तथा भाषा का सम्बन्ध

'नित्ये शब्दार्थसम्बन्धे' इस वार्तिक द्वारा शब्द नित्य है अर्थ नित्य है तथा इनका परस्पर सम्बन्ध भी नित्य है, ऐसा प्राचीन तथा अर्वाचीन भारतीय वैयाकरणों ने माना है। वहीं दूसरी ओर कात्यायन ने ''सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे''[१] इस वार्तिक का प्रणयन करके बतलाया है कि भाषा-प्रक्रिया का विकास लोक में सहज रूप से होता है। अर्थात् भाषा किसी वैयाकरण या विशेषज्ञ के बनाने से नहीं बनती। कात्यायन तथा पतंजलि दोनों इसी मत के समर्थक हैं। शब्दों के निर्माण के विषय में यह मत प्रसिद्ध है कि जिस प्रकार किसी व्यक्ति को घड़े की आवश्यकता होने पर वह कुम्हार के घर जाकर यह कहता है कि मुझे घड़े बना दो, उस प्रकार से शब्दों की आवश्यकता होने पर कोई व्यक्ति वैयाकरण के घर जाकर यह नहीं कहता कि मेरे लिये शब्दों की रचना करो।

अतः इन सभी से सिद्ध होता है कि ''व्याकरण शास्त्र किसी नवीन वस्तु का निर्माण नहीं करता, अपितु प्रयुक्त वस्तु के विवेचनजन्य परिणामों को ही प्रस्तुत करता है तथा उस स्वाभाविक नियमविधान को परिलक्षित कर उसे ही पुनः स्पष्ट कर देने का माध्यम 'व्याकरण' है।''[२]

भर्तृहरि के अनुसार ''व्याकरण का विषय 'वाक्' होकर भी 'वाक्य' नहीं है। वह शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का निर्णायक भी नहीं है और न तो नियामक ही है, वह तो शब्दों की रचना-प्रवृत्ति और उनके व्यवहार की व्याख्या मात्र कर सकता है।[३] भाषा तो लोक प्रवृत्ति से बनती तथा विकसित होती है। अतः मनुष्य नियम बनाकर शब्दों का प्रयोग नहीं करता, बल्कि शब्दों का विकास एक अनिश्चित प्रक्रिया के

१. वार्तिक महाभाष्य, आ० १।
२. महाभाष्य, आ० १।
३. वाक्यपदीयम् १, १३।

अनुसार होता है। अतएव उस प्रक्रिया को जान लेना तथा नियम के रूप में उसका उद्घोष करना, व्याकरण का उद्देश्य है। भर्तृहरि व्याकरण का विवेच्य विषय 'पद' मानते हैं, 'वाक्यपदीयम्' में उन्होंने ''इदमार्थपदस्थानम्'' इस वाक्य का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि व्याकरण का क्षेत्र पद ही है। व्याकरण का कार्य शब्द की या पद की साधुता की परख करना है। वाक्यपदीयम् की प्रारम्भिक कारिकाओं में भर्तृहरि का दृष्टिकोण विशुद्ध भाषाविद् एवं दार्शनिक का है। इनके द्वारा प्रयुक्त 'इदमार्थपदस्थानम्' में 'पदस्थान' का अर्थ विचारणीय है; क्योंकि वे वाक्य को अखण्ड मानते हैं तथा अखण्ड शब्द 'ब्रह्म' का या 'वाक्तत्त्व' का प्रतिपादक है। व्याकरण ही एकमात्र ऐसा साधन है, जिसके द्वारा उस 'अखण्ड ब्रह्म' का विश्लेषण करके उसे पहचानने का प्रयत्न किया जा सकता है।''

पतंजलि द्वारा उक्त 'एक शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति'[१] को ही भर्तृहरि ने प्रकारान्तर से विद्या का आगम एक पद से ही हो जाता है ऐसा माना है[२] तथा विद्या का एक पद बैखरी, मध्यमा तथा पश्यन्ती रूप में विभक्त वाणी ही है।[३] भर्तृहरि द्वारा प्रयुक्त अखण्ड शब्दब्रह्म को ही लौकिक व्यवहार में पद, वचन, काल, विभक्ति आदि शब्दों द्वारा व्यवहृत किया जाता है। व्याकरण का कार्य भर्तृहरि द्वारा प्रयुक्त पदों का परिचय देना नहीं अपितु इससे आगे एक अखण्ड अर्थ की उपलब्धि कराना ही माना जाता है। पतंजलि के ''महता देवेन नः साम्यं स्यात्'' का यही आशय है।

'पातंजल महाभाष्य' में स्पष्ट कहा गया है कि 'अक्षरतत्त्व' और 'वर्णतत्त्व' का यथार्थ ज्ञान व्याकरण द्वारा ही होता है। अतः पदों की वास्तविक प्रवृत्ति या प्रवृत्ति-निमित्त का बोध भी हमें इसी के द्वारा होता है तथा शब्दों की प्रवृत्ति जानने के उपरान्त (एकः शब्दः सक्यग्ज्ञातः) वाक् के परमरस शब्द-ब्रह्म का आस्वादन किया जा सकता है। भर्तृहरि के ''यो वाचः परमो रसः, परं ब्रह्माधिगम्यते। ब्रह्मामृतमश्नुते तथा त्रय्यावाचः परं पदम्॥''[४] आदि कथन व्याकरण के इसी सामर्थ्य एवं प्रयोजन को द्योतित कर रहे हैं। अतः वाणी के परमरस का समग्र रूप में आस्वादन उसके वास्तविक स्वरूप को जाने बिना कैसे कर सकते हैं? अतः वाणी की समग्रता तथा इसमें निहित रहस्य को समझने के लिए ही व्याकरण का सहारा लेना अनिवार्य है। अतः व्याकरण का उद्देश्य केवल पद-ज्ञान कराना ही नहीं है; अपितु शब्दब्रह्म के रूप में वाणी के समग्र रस का आस्वादन कराना भी है और यही ज्ञान-विज्ञान के विवेचन

१. महाभाष्य, ६/२/८४।
२. महाभाष्य, १/९।
३. महाभाष्य, १/१४३।
४. वाक्यपदीयम् प्रथम काण्ड।

का विषय है। इसी में ब्रह्म है अर्थात् यही ब्रह्मतत्त्व सर्वत्र सृष्टि में शब्द-तत्त्व के रूप में विस्तीर्ण है। इस शब्दब्रह्म की प्राप्ति का साधन व्याकरण ही है। यह अभीष्ट सिद्धि का साधन है।[१]

अतः व्याकरण का परम उद्देश्य 'शब्द ब्रह्म' की उपलब्धि कराना है, जो कि सम्पूर्ण सृष्टि में स्फोट रूप में वाक्तत्त्व के रूप में विद्यमान है।

●●●

१. प्रदीप, महाभाष्य आ० १।

चतुर्थ अध्याय

व्याकरण शास्त्र के विभिन्न रूप तथा उनका दार्शनिक आधार

'नाम' पद का दार्शनिक आधार

निरुक्त में आचार्य यास्क ने पद को चार प्रकार का मानते हुए 'नाम' को 'सत्वप्रधानानि नामानि' अर्थात् जिसमें सत्त्व की प्रधानता है वे 'नाम' पद हैं ऐसा कहा है। संस्कृत व्याकरण के नाम पद प्रातिपदिक और सुप् प्रत्ययों के संयोग से निष्पन्न होते हैं अर्थात् जिस शब्द का उच्चारण करने से द्रव्य की प्रधान रूप से प्रतीति हो उसे व्याकरण के विद्वान् 'नाम' कहते हैं। इस प्रकार जिस शब्द से भिन्न-भिन्न अर्थों में विभक्तियाँ प्रयुक्त होती हैं और वचन तथा लिंग की दृष्टि से अन्तर पाया जाता है उसे आचार्य 'नाम' कहते हैं। नाम पदों के मूल में प्रातिपदिक होते हैं। ये ही नाम पदों की प्रकृति माने जाते हैं। आचार्य शाकटायन और अनेक निरुक्तकार नाम पदों को आख्यात पदों से निष्पन्न मानते हैं, परन्तु महर्षि यास्क स्पष्ट करते हैं कि 'गार्ग्य' तथा कतिपय वैयाकरण इससे सहमत नहीं है।

यास्क के मतानुसार छः भाव-विकारों में आख्यात ही एक ऐसा तत्त्व है जो परिणत होने पर भी गतिशील बना रहता है।[1] अतः सत्त्व तथा भाव ही वे वास्तविक तत्त्व है, जिनके आधार पर किसी शब्द को नाम या आख्यात कहा जा सकता है। इस सभी में कुछ न कुछ निरन्तरता विद्यमान रहती है। गतिशील होने के कारण ये अस्थिर और परिवर्तनशील भी रहते हैं। क्षणों या घटना-क्रमों की शृंखला-विशेष ही भाव कहलाती है, इससे सत्तामात्र की सामान्य परिवर्तन की स्थिति का बोध होता है। इसके विपरीत नाम किसी सत्त्व या द्रव्य का बोधक होता है। 'सत्वप्रधानानि नामानि' में नाम पद का मूल तत्त्व 'सत्त्व' माननेपर सर्वनाम और विशेषण भी उसी के अन्तर्गत समविष्ट हो जाते हैं। जहाँ भावना का संहार होता है वहीं से भाव की स्थिति समाप्त होकर 'सत्त्व' की स्थिति प्रारम्भ हो जाती है। भर्तृहरि आदि विद्वानों ने इसे अधिक सार्थक रूप से स्पष्ट करने हेतु 'साध्य' और 'सिद्ध' नाम दिया है।[2] इनके अनुसार नाम पदों की प्रवर्तन की सम्भावना तब तक रहती हैं जब उनमें क्रम की भावना समाप्त हो जाती है। जहाँ क्रम की भावना का संहार होता है वहीं से भाव की स्थिति समाप्त होकर सत्त्व की स्थिति

---

१. निरुक्त १/१/८।

२. वाक्यपदीयम् ३/८/१।

प्रारम्भ हो जाती है। इन नाम पदों में सर्वनाम, विशेषण, क्रियाविशेषण, गुण एवं संख्या आते हैं।[१] पतंजलि ने भी यास्काचार्य की भाँति नाम को 'सत्त्व' या 'द्रव्य' प्रधान तथा आख्यात को क्रिया-प्रधान स्वीकार किया है।[२]

आख्यात पद का दार्शनिक आधार

'भावप्रधानम् आख्यातम्' नाम और आख्यात का लक्षण देते समय आख्यात का लक्षण पहले दिया गया है क्योंकि प्राय: सभी नामों के मूल में आख्यात रहता है। इसके अतिरिक्त आख्यात से अनेक 'नाम पद' निष्पन्न होते हैं। आख्यात का प्रयोग कहीं-कहीं केवल 'तिङ्' 'विभक्तियों' के लिए भी हुआ है। यद्यपि भाव के अनेक अर्थ होते हैं किन्तु यहाँ इसका अभिप्राय 'साध्य-भाव' या क्रिया से ही हैं। आख्यात सम्बन्धी यास्काचार्य के मत की दुर्गाचार्य ने दो प्रकार से व्याख्या की हैं। प्रथम व्याख्या के अनुसार 'आख्यात' द्वारा क्रिया अथवा भाव दोनों की उत्पत्ति होती है अर्थात् आख्यात द्वारा क्रिया और भाव दोनों का बोध होता है। द्वितीय व्याख्यानुसार भाव के अन्तर्गत व्यापार और फल दोनों ही आते हैं। आख्यात पद धातु और तिङ् का समुदाय है। इसमें प्रकृत्यर्थ की प्रधानता तथा प्रत्ययार्थ की गौणता होती है। आख्यात के विषय में पतंजलि तथा वार्ष्यायणि दोनों का मत एक है। अत: आख्यात का मूल तत्त्व 'भाव' एक प्रकार की वह क्रमिक परिवर्तनशील दशा है, जिसके 'जायते' इत्यादि विकार होते हैं। पतंजलि ने आख्यात को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ''कारकों'' की 'प्रवृत्ति' विशेष ही क्रिया है।[३] 'प्रवृत्ति' विशेष से उनका तात्पर्य 'व्यापार' विशेष से हैं अर्थात् एक प्रवृत्ति एक-दूसरे से भिन्न होती है। 'कर्म कर्त्तरि' में अन्य कारक भी अपने व्यापार में स्वतन्त्र होने के कारण 'कर्त्ता' बन जाते हैं। उस समय इनकी 'प्रवृत्ति विशेष' का बोध क्रिया से होता है। अत: सम्प्रदान एवम् अपादान, कारक को छोड़कर अन्य कारक भी कर्त्ता बन जाते हैं। उन सभीकी प्रवृत्ति-विशेष का बोध आख्यात या क्रिया से होता है। 'स्थाली पचति' इस प्रयोग में स्थाली अपनी अधिकरणता का त्यागकर स्वव्यापार में स्वतन्त्र होने के कारण कर्त्ता बन जाता है। 'पचति' में पच् धातु सामान्य रूप में फल और व्यापार का बोधक है तथा धातु विशेष के रूप में विक्लप्ति और फूल्काशादि का बोध कराती है अर्थात् पूर्वोक्त में प्रयुक्त 'प्रवृत्ति विशेष' होते हुए भी 'प्रवृत्ति सामान्य' ही हैं। अत: यहाँ प्रयुक्त 'प्रवृत्ति-विशेष' पद का प्रयोग 'प्रवृत्ति-सामान्य' के अर्थ में समझना चाहिये। इस प्रकार पतंजलि ने स्पष्ट किया है कि ''आख्यात में क्रिया की प्रधानता होती है।''

---

१. वाक्यपदीयम् ३८२९।
२. वाक्यपदीयम् ५।३।६६।
३. कारकाणां प्रवृत्तिविशेषा क्रिया, निरुक्त पर दुर्गाचार्यभाष्य १/३/१।

आख्यात के लक्षण के प्रसंग में ही पतंजलि ने धातु के स्वरूप एवं दार्शनिक आधार की भी विवेचना की है। उन्होंने 'भूवादयो धातवः' ऐसा सूत्र-लक्षण स्वीकार किया है। ऐसा सूत्र-लक्षण करके उन्होंने 'क्रिया-वचनो धातुः' अर्थात् क्रियावाचक को धातु कहते हैं, सभी धातुओं में 'करना' अर्थ सामान्यरूपेण रहता है। जैसे 'किं करोति?' इसी प्रकार 'पचति किं करिष्यति?' अतः इन प्रयोगों में 'पच्' और 'कृ' धातु का प्रयोग सामान्यरूपेण है अतः इन्हें 'क्रियावचनो धातु' कहा जा सकता है। किन्तु धातु का यह लक्षण प्रत्येक स्थान पर घटित नहीं होता, अतः उन्होंने 'भाववचनोः धातुः' यह लक्षण भी किया है। धातु के इस लक्षण से 'भवति' 'अस्ति' आदि शब्दों का भी समाधान हो जाता है; क्योंकि ये सभी 'होना' अर्थ का बोध कराते हैं।[१] पतंजलि द्वारा बताये गये धातु के दो लक्षणों का प्रमुख कारण धातुओं से प्रकट होने वाला व्यापार है और यह व्यापार दो प्रकार का होता है शारीरिक चेष्टा से युक्त सपरिस्पन्द तथा शारीरिक चेष्टारहित अपरिस्पन्द। अतः करोति आदि धातुएँ शारीरिक चेष्टा से युक्त 'सपरिस्पन्द' व्यापार की बोधक होती हैं। दूसरी ओर भवति आदि शारीरिक चेष्टा रहित धातुएँ 'अपरिस्पन्द' व्यापार की बोधक है।

अतः पतंजलि ने धातु का जो लक्षण बतलाया है वह इसी को ध्यान में रखकर बताया है अर्थात् 'क्रियावचनो धातुः' लक्षण, सपरिस्पन्द व्यापार सामान्य को ध्यान में रखकर बताया तथा द्वितीय लक्षण 'भाववचनो धातुः' अपरिस्पन्द व्यापार सामान्य दोनों दृष्टियों से उपयुक्त है।[२] अतः पतंजलि द्वारा कथित लक्षणों का सार इस प्रकार होगा—आख्यात (क्रियापद), धातु और तिङ् के संयोग से निष्पन्न रूप है। भर्तृहरि ने अपने 'वाक्यपदीयम्' नामक ग्रन्थ में क्रिया के जाति पक्ष तथा व्यक्ति पक्ष का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया है। पतंजलि ने क्रिया के विषय में अपना विचार प्रकट करते हुए कहा है कि क्रिया या आख्यात अनुमानगम्य अप्रत्यक्ष तथा अखण्ड है।[३] आख्यात पदों के समान कृदन्त क्रिया-पदों में धातु तथा प्रत्यय होते हैं। प्रवर्तनार्थक, पूर्वकालिक तथा क्रियार्थक इन कृत् प्रत्ययों से कर्त्ता, कर्म, भाव, संख्या लिंग और काल या प्रवर्तना आदि की भी प्रतीति होती है।

उपसर्ग पद का दार्शनिक आधार

संस्कृत व्याकरण में उपसर्गों के विषय में विभिन्न मत प्रसिद्ध है। जिनमें कुछ आचार्य उपसर्गों के 'द्योतकत्व पक्ष' के प्रवर्तक हैं तो कुछ इसके 'वाचकत्व पक्ष' के समर्थक हैं। शाकटायन तथा पतंजलि प्रथम पक्ष के समर्थक हैं।

---

१. महाभाष्य १/३/१।

२. उद्योत, महाभाष्य १/३/१।

३. (क) महाभाष्य, (ख) एका हि क्रिया। महाभाष्य १/२/६४।

शाकटायन का यह विचार है कि उपसर्ग सदा 'नाम' अथवा 'आख्यात' पदों के साथ सम्बद्ध होकर ही आते हैं। कभी भी स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त होकर किसी विशिष्ट अर्थ का प्रकाशन नहीं करते। ये जिस नाम या 'तिङन्त' पदों के साथ प्रयुक्त होते हैं उनके ही अर्थों का द्योतन करते हैं। स्वयं किसी ऐसे अर्थ को नहीं कहते जो नाम और तिङन्त पदों से भिन्न हों; अर्थात् उपसर्गों का प्रयोग होने पर जिस अर्थ का प्रकाशन होता है वह उपसर्ग का न होकर उन्हीं नाम या तिङन्त पदों का होता है। उपसर्ग तो केवल उन अर्थों का द्योतन या प्रकाशन मात्र करते हैं, परंतु आचार्य गार्ग्य का मत है कि 'नाम' और 'आख्यात' के समान यह भी 'पद' हैं तथा उनके भी अपने-अपने विविध अर्थ होते हैं। ये किसी अर्थ का द्योतन या प्रकाशन नहीं करते।[१] उपसर्ग ऐसे अर्थ के वाचक होते हैं; जो 'नाम' या 'आख्यात' पदों के ही अर्थों में विकार पैदा कर देते हैं। नाम तथा आख्यात पदों के संयोग से जो अर्थ-भिन्नता आती है वह अर्थ-भिन्नता उपसर्गों के हट जाने पर समाप्त हो जाती है। यह 'अर्थ-भिन्नता ही उपसर्गों का अपना अर्थ है। उपसर्ग के विषय में नैरुक्तों का मत वैयाकरणों के मतों से भिन्न रहा है। नैरुक्त उपसर्गों को अर्थ का द्योतक न मानकर वाचक मानते हैं। यह गार्ग्य के कथन से अनुमेय है।'

उपसर्गों के इन स्वतन्त्र प्रयोगों तथा उनसे प्रकट होने वाले विशिष्ट अर्थों को देखकर ही पतंजलि को भी जो उपसर्गों के द्योतकत्व पक्ष के समर्थक हैं, यह मानना पड़ा कि उपसर्गों का यह स्वभाव है कि जब उनके साथ किसी क्रियावाचक शब्द का प्रयोग होता है तो वहाँ वे क्रियाविशेष को कहते हैं; परन्तु जहाँ उनके साथ तिङन्त पद का प्रयोग नहीं होता है, वहाँ साधन (कारक) से 'विशिष्ट क्रिया' को कहते हैं। अतः उन्होंने ''उपसर्ग विशिष्ट धातु'' क्रिया का वाचक नहीं होती है यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है तथा उन्होंने बताया है कि धातु ही क्रिया का वाचक है। इनके अनुसार प्र उपसर्ग केवल उसकी विशेषता का द्योतक है, वाचक नहीं। किन्तु 'तिष्ठति' में उपसर्ग-रहित 'स्था' धातु का अर्थ गतिनिवृत्ति होता है, परन्तु प्रतिष्ठते में सोपसर्ग 'स्था' धातु गति का वाचक है। ऐसे प्रयोगों से तो यही सिद्ध होता है कि उपसर्ग सार्थक हैं। महाभाष्यकार ने कहा है कि 'धातूनामनेकार्थत्वात्'।[२] अर्थात् धातुएँ अनेक अर्थ वाली होती हैं। उदाहरणस्वरूप 'वप्' धातु बोना तथा काटना दोनों अर्थों का वाचक है। इसी प्रकार 'स्था' धातु भी गतिनिवृत्ति और गति दोनों अर्थों का वाचक है। सोपसर्ग धातुओं में लकार की उत्पत्ति शुद्ध धातु से होती हैं। सकर्मक धातु का अर्थ केवल धातु में भी विद्यमान होता है, तभी तो उपसर्ग हीन भू धातू से लकार हो जाता है। यदि मूल धातु में सकर्मकता नहीं होगी तो कर्म में लकार कैसे होगा?

---

१. (क) निरुक्त १/३१।
   (ख) निरुक्त १/३/५।

२. महाभाष्य १/३/१।

इसीलिए पतंजलि ने "पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण:" इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।[१] वस्तुतः सभी मतों के अवलोकन से यह बात स्पष्ट हो जाती हैं कि चाहे उपसर्गों के द्योतकत्व को मानने वाले हों अथवा वाचकत्व के मानने वाले; दोनों ही मत उपसर्गों की अर्थवत्ता किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हैं, केवल रूपसिद्धि की प्रक्रिया में वैयाकरण उपसर्गों को वाचक न मानकर द्योतक मानते हैं।

'भाषा-वैज्ञानिक' दृष्टि से सोपसर्ग धातु के प्रयोग में न तो उपसर्ग का कोई पृथक् अर्थ होता हैऔर न ही धातु का। ऐसे स्थलों में उपसर्ग और धातु संयुक्त होकर एक विशेष-प्रकृति को जन्म देते हैं। यही विशेष-प्रकृति अर्थवत् होती है; क्योंकि उपसर्गों का स्वतन्त्र प्रयोग नहीं होता। अतः उनका सार्थक होना या न होना समान हैं। सोपसर्ग धातु को 'अडागम' तथा 'द्वित्व' भी नहीं होता तथा इससे प्रतीत होने वाला अर्थ केवल धातु का नहीं हो सकता। इसके विषय में यही कहा जा सकता है कि सोपसर्ग धातु विशेष-प्रकृति हैं। वैयाकरणों की प्रक्रिया कल्पित होती है इसीलिये उन्होंने उनका पाठ नहीं किया है। भाषा-विवेचन के लिए जो प्रक्रिया सरल एवं संक्षिप्त सी प्रतीत हुई उसी को उन्होंने अपना लिया। संग्राम जैसी सोपसर्ग धातु से उपसर्ग से पूर्व ही अडागम होता था तो उसे धातु पाठ में सोपसर्ग ही पढ़ा गया है। इस प्रकार की एक दो ही धातुएँ हैं अतएव निर्वचनार्थ उन्हें सोपसर्ग ही पढ़ना अपरिहार्य था। शेष धातुएँ ऐसी हैं जिनमें न तो उपसर्ग से पूर्व अडागम ही होता है न उपसर्ग को द्वित्व ही होता है।

निपात एवं अव्यय पदों का दार्शनिक आधार

'निपात' शब्द की निष्पत्ति 'नि' उपसर्गपूर्वक 'पत्' धातु से की जाती है। ये निपात विविध अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। यास्क ने 'उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति' यह कहकर स्पष्ट कर दिया है कि 'निपात' विविध अर्थों के वाचक होते हैं। निपातों के विषय में प्रसिद्ध है कि ये शब्द भाषा में अज्ञात रूप से आ गिरे हैं, जिनके प्रकृति और प्रत्यय आदि के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं होता है, इसीलिये उन्हें 'निपात' कहा गया है।

नवीन वैयाकरणों ने निपातों को भी उपसर्गों के समान अर्थ का द्योतक स्वीकार किया है। इन सभी मतों से निपातों की अर्थवता प्रतिपादित होती है। यह अर्थवत्ता स्थिर है या नहीं यह पृथक् प्रश्न है, परन्तु उनके विषय में इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ये चाहे संकेत द्वारा अर्थ वहन करें या वर्ण के रूप में किसी स्थिर अर्थ का वहन करें उनकी सत्ता निरर्थक नहीं है। ऐसी धातुओं को उपसर्गरहित पढ़ना ही अधिक उपयुक्त है।[२] सोपसर्ग में ही अर्थबोधकता मानना वैयाकरणों के समास-

---

१. महाभाष्य ६/१/१३५।

२. वाक्यपदीयम् २/१८०।

शक्ति सिद्धान्त के अनुकूल है। उपसर्ग और धातु का समास होने पर एक विशेष-प्रकृति जन्म लेती है यह वैयाकरणों की धारणा है। इसीलिये विशिष्ट में ही शक्ति मानना उपयुक्त है उपसर्गों के द्योतकत्व पक्ष को मानने पर यही कल्पना उचित प्रतीत होती है कि उपसर्ग केवल तात्पर्य-ग्राहक होने के कारण उसके साथ प्रयुक्त होते हैं, तब वह भी दोनों के विशिष्ट अर्थ का बोधक मान लिया जाता है।

जगदीश तर्कालंकार का कथन है कि ''संस्कृत के सार्थक शब्द अन्य शब्दों के संयोग से ही स्वार्थ का बोध कराते हैं। इस प्रकार के सार्थक शब्द प्रकृति-प्रत्यय तथा निपात इन तीन भागों में विभक्त किए जा सकते हैं।[१] जिस प्रकार प्रकृति-प्रत्यय दोनों मिलकर ही अर्थ के बोधक होते हैं, उसी प्रकार निपात भी नाम आख्यात के साथ मिलकर अर्थ के बोधक होते हैं। 'उपसर्ग' नाम तथा धातु के अवयव होकर ही प्रयुक्त होते हैं, परन्तु निपात नाम या धातु के अवयव नहीं हैं। इसी आधार पर नैयायिक उपसर्गों को द्योतक तथा निपातों को वाचक मानते हैं। पतंजलि निपातों को द्योतक तथा वाचक दोनों ही मानते हैं। कैयट तथा नागेश ने पतंजलि के भाव को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ''लक्ष्य के अनुसार ही निपात कहीं द्योतक होते हैं तथा कहीं वाचक होते हैं।''[२]

भर्तृहरि के अनुसार 'द्योतक' वह है जो पद होने पर भी स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त न हो जबकि निपात पद होते हुए भी स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त नहीं होते इसलिए द्योतक ही हैं; वाचक नहीं।[३]

भट्टोजिदीक्षित ने भर्तृहरि के मत का समर्थन करते हुए लिखा है कि ''जिस तर्क से प्रादि उपसर्ग द्योतक हैं, उसी तर्क से निपात भी द्योतक हैं।''[४]

कौण्डभट्ट तथा नागेशभट्ट ने भी निपातों को द्योक माना है।[५] आचार्य पाणिनि ने अद्रव्यवाची अव्ययों को निपात स्वीकार किया है।[६] विभक्ति, समीप, समृद्धि आदि अर्थ जो अव्ययीभाव समास के द्वारा बताए जाते हैं, वे अव्ययों (निपातों) के ही अर्थ होते हैं। इन अर्थों में जो निपात या अव्यय हैं, उनका समास होने पर अव्ययी-भाव कहा जाता है।[७] वस्तुतस्तु जिन निपातों का प्रयोग वाक्यालंकार और पादपूर्ति के लिए किया जाता है, वे सभी उन स्थलों में निरर्थक ही होते हैं। उनका निर्धारण प्रकरण से

---

१. शब्द शक्ति प्रकाशितका, कारिका ६।
२. (क) प्रदीप, महाभाष्य २/१/६।
   (ख) उद्योत, महाभाष्य २/१/६।
३. वाक्यपदीय २/१६४।
४. वैयाकरणभूषण सार अष्टाध्यायी ४२।
५. मंजूषान निपातार्थ।
६. प्रागीश्वरान्निपाताः (अष्टाध्यायी १/४/५६)।
   चादयोऽसत्वे (अष्टाध्यायी १/४/५०)।
७. महाभाष्य २/१/६।

ही सम्भव है कि कौन-सा निपात कहाँ पर निरर्थक है और कहाँ पर सार्थक है। यास्क ने निपातों को तीन भागों में विभाजित करते हुए समुच्चय अर्थ वाले 'अपि' उपसर्ग का प्रयोग किया है, जो सम्भवतः उनके समझ से इस रूप में रखा जा सकता है—'निपाता उपमार्थे च कर्मोपसंग्रहं च पादपूर्णाश्च भवन्ति' अर्थात् निपात 'उपमा अर्थ वाले, कर्मोपसंग्रह अर्थ वाले तथा पादपूर्ति अर्थ वाले होते हैं। निपातों तथा उपसर्गों को एक समान दर्शाने के लिए वैयाकरणों ने दोनों को द्योतक माना है। संस्कृत के रचनात्मक स्वरूप में उपसर्ग तथा निपात दोनों ही समान हैं तथा वैदिक भाषा में इनकी समानता दृष्टिगोचर होती है। वहाँ उपसर्ग भी निपातों के समान धातु से प्रयुक्त होते हैं। जबकि लौकिक संस्कृत में निपातों की अपनी स्वतन्त्र सत्ता हैं तथा उपसर्ग नाम तथा आख्यात के अंश बन चुके है। अतः उपसर्ग तथा निपातों को एक श्रेणी में रखना उचित नहीं है।'

यदि निपातों का स्वतन्त्र प्रयोग ही वाचकत्व की कसौटी है तो नाम तथा आख्यात भी वाचकता से वंचित हो जायेंगे। भाषा प्रयोगार्ह लघुतम इकाई वाक्य ही है और वाक्य आकांक्षा, योग्यता और सान्निधियुक्त पदों का समूह होता है। इसीलिए वाक्य में पद स्वतन्त्र प्रयुक्त नहीं होता। उदाहरणस्वरूप मैवम्, नो, आम्, या इन स्थलों पर अन्य पदों का प्रयोग अध्याहार या आक्षेप से ही हो जाता है। इन सभी बातों से यही कहना उचित होगा कि निपातों तथा उपसर्गों को एक ही श्रेणी में रखना युक्ति संगत नहीं हैं। अतः भाष्यकार पतंजलि ने निपातों को द्योतक तथा वाचक दोनों प्रकार का स्वीकार किया है।

कर्मप्रवचनीय का दार्शनिक आधार

पतंजलि ने कर्मप्रवचनीय को अन्वर्थक मानते हुए लिखा है कि जो 'कर्म अर्थात् क्रिया को कह चुके हैं', वे कर्मप्रवचनीय कहलाते हैं। अर्थात् जो वर्तमान अवस्था में क्रिया को नहीं कहते अपितु जो अप्रयुक्त धातु की क्रिया को कहते हैं वे कर्म-प्रवचनीय हैं।

यहाँ भाष्यकार का तात्पर्य है कि कर्मप्रवचनीय पद का प्रयोग जिस क्रियापद के साथ हो रहा होता है उससे भिन्न क्रिया के अर्थ का द्योतन करते हैं। उदाहरणस्वरूप 'विलिखित' में 'वि' का प्रयोग उपसर्ग के रूप में नहीं हुआ है, तथा यह 'वि' लिख् के अर्थ में किसी संशोधन अथवा परिवर्धन को नहीं करता, अपितु इसका अर्थ है 'विकृष्य लिखति'। अतः यहाँ 'कृष्' धातु के अर्थ को अपने में अन्तर्निहित करके लिख् धातु के साथ संयुक्त हैं। इस प्रकार यहाँ उपसर्ग की स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती। यह आवश्यक नहीं कि कर्मप्रवचनीय का प्रयोग क्रिया के साथ सम्बद्ध होकर ही आये। 'तमनुव्रजति' जैसे प्रयोगों में स्वतन्त्र रहने पर भी 'अनु' का अर्थ अनुसृत्य ही माना जाता हैं। उपसर्ग वर्तमान क्रिया की विशेषता को द्योतित करते हैं तथा कर्मप्रवचनीय व्यतीत क्रिया के अर्थ को द्योतित करते हैं। इनमें व्यतीत क्रिया के व्यापार का समन्वय सम्भव

हैं वर्तमान क्रिया का नहीं। रूपरचना की दृष्टि से प्रादि उपसर्ग, चादि निपात कर्मप्रवचनीय पदवाच्य तथाकथित उपसर्ग सभी निपात संज्ञक हैं परन्तु कुछ विशेष स्थलों में कुछ उपसर्ग कर्मप्रवचनीय पद-वाच्य हो जाते हैं।

पुनरपि कर्मप्रवचनीय सूक्ष्म अर्थ सम्बन्धी प्रयोग के कारण उपसर्गों से पृथक् स्वतन्त्र माने गये हैं। ये उपसर्गों के समान साक्षात् किसी क्रिया की विशेषता का द्योतक नहीं करते।

समसार्थ का दार्शनिक आधार

महाभाष्यकार ने 'समर्थः पदविधिः'[१] सूत्र के द्वारा बताया है कि पदों की जो विधि होती है वह समर्थ पदों से ही सम्बन्धित होती है। संस्कृतव्याकरण में समास-विधि के द्वारा सभी पद समस्त होकर एक विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। समास में पदों का यह सामर्थ्य क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए—कैयट ने एकार्थीभाव तथा व्यपेक्षाभाव इन दो मतों का निर्देश किया है तथा कहा है कि 'जहाँ पदों का मुख्य अर्थ गौण हो जाता है अथवा किसी अन्य प्रधान अर्थ का बोध कराने हेतु निवृत्त हो जाता है।' वहाँ एकार्थीभाव होता है तथा पदों के अर्थ की पारस्परिक आकांक्षा व्यपेक्षाभाव कहलाता है। उदाहरणस्वरूप 'रथन्तरम्' पद में 'रथ' और 'तर' पद अपने मुख्य अर्थ वाहन विशेष तथा तैरने वाले अर्थों का परित्याग कर एक नवीन 'साम विशेष' अर्थ का बोध कराते हैं। यह एकार्थीभाव हैं। व्यपेक्षाभाव में राजपुरुषः आदि पदों में राज्ञः और पुरुषः पदों का अर्थ साकांक्ष रूप में विद्यमान रहता है वे अपने स्वार्थ का नितान्त परित्याग नहीं करते। इन दोनों को क्रमशः 'जहत्स्वार्था' वृत्ति और 'अजहत्स्वार्था' वृत्ति नाम से अभिहित किया जाता है। भाष्यकार ने व्यपेक्षा अर्थात् अजहत्स्वार्था पक्ष का आशय स्पष्ट करते हुए लिखा है कि पदार्थों की परस्पर व्यपेक्षा सामर्थ्य है।[२] कुछ आचार्यों की दृष्टि में राजपुरुषः का अर्थ अराजकीय पुरुष से भिन्न पुरुष हैं। ये आचार्य भेद को सामर्थ्य मानते हैं जबकि अन्य विद्वान् संसर्ग को सामर्थ्य मानते हैं। उनके मत में इस पद का अर्थ राजसबन्धवान् पुरुष है। क्योंकि 'राजपुरुषः' इस पद में अराजकीय भिन्न और राजसम्बन्धवान् पुरुष इस सम्मिलित अर्थ का बोध होता है। इन दोनों पक्षों को प्रस्तुत करने के पश्चात् पतंजलि ने 'एकार्थीभाव ही सामर्थ्य है'।[३] यह सिद्धान्त स्वीकार किया है, जिससे स्पष्ट होता है कि समास में पदों (अवयवों) का कोई अर्थ नहीं होता केवल समुदाय का ही अर्थ होता है। भर्तृहरि भी इसी से सहमत हैं।[४] समस्तपद तथा उसके

१. (क) अष्टाध्यायी २/१/१।
(ख) महाभाष्य २/१/१।
२. सुबुत्पति। महाभाष्य १/१/१।
३. एकार्थीभावः सामर्थ्यम्। महा० २/१/१।
४. वाक्यपदीय वृत्ति समुद्देश्य, ४९।

अर्थबोधक वाक्य (विग्रह) दो भिन्न-भिन्न वस्तु हैं। समस्तपद का विग्रह करके अर्थ का बोध कराना केवल अबोध व्यक्तियों के लिए है। पतंजलि ने इस मत का समर्थन करते हुए लिखा है कि 'वाक्य में भिन्नार्थक पद समास में एकार्थीभाव को प्राप्त हो जाते हैं,[१] परन्तु सिद्धान्त पक्ष में उन्होंने समस्त पद का विशिष्ट अर्थ स्वाभाविक ही माना है; क्योंकि भाषा में प्रयुक्त शब्द स्वभावतः अर्थ का बोधक होता है।

वैयाकरण शब्दों में अर्थ का विधान नहीं करता वह तो परम्परागत अर्थ का निर्देश करता है। किन्तु जो आचार्य 'एकार्थीभाव में समास होता है' यह मानते हैं उनकी दृष्टि में भी समास में 'जहत्स्वार्था वृत्ति' होती हैं।[२]

पतंजलि के पिछले कथन से भी यही प्रतिपादित होता है कि समास में विशिष्ट शक्ति होती हैं। समास के अवयवों से विशेषण और विभक्ति का योग नहीं होता है। वाक्य में 'वृद्धस्य राज्ञः पुरुषः' यह प्रयोग सम्भव है परन्तु समास में 'वृद्धस्य-राजपुरुषः' यह प्रयोग नहीं होता है। राजपुरुषः में राजपद का अर्थ अवयवार्थ है, समुदायार्थ नहीं। परन्तु पतंजलि को यह पक्ष स्वीकार नहीं; अतः उन्होंने इसकी व्याख्या करके अन्त में 'व्यपेक्षा पक्ष' मानने पर सम्भावित आपत्तियों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि ''समस्त पदों में विशिष्ट शक्ति मानने पर अवयवातिरिक्त अर्थ भी समुदाचार्य हो सकता है। परन्तु 'व्यपेक्षा पक्ष' में यह सम्भव नहीं है। अतः वहाँ पर अवयवातिरिक्त विशेष अर्थ का विधान करना पड़ता है जो एकार्थीभाव में स्वतः सिद्ध है।''

कैयट ने इसका अभिप्राय स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—'निश्कौशाम्बिः' में क्रान्त अर्थ, गौरयं में युक्त अर्थ, घृतघटः में पूर्ण अर्थ, गुड़धाना में मिश्र अर्थ विशेष विधान करना पड़ेगा। जबकि एकार्थीभाव में विशेष शक्ति मानने पर इन अर्थों के विधान की आवश्यकता नहीं रहेगी; क्योंकि एकार्थीभाव पक्ष में विशेष प्रकृति है।[३]

जैसे एकार्थीभाव पक्ष में 'राजपुरुषः' पद का 'राज सम्बन्धवान् पुरुष' यह विशेष अर्थ है। राजपुरुषः में वृद्ध यह विशेषण नहीं लगेगा; क्योंकि सविशेषणों का समास नहीं होता, अथवा समस्त पद के एक देश के साथ विशेषणों का योग सम्भव नहीं होता। कुछ सम्बन्धवाचक शब्द ऐसे हैं, जिनके साथ ससास में भी विशेषण देखा जाता है, यथा—देवदत्तस्य गुरुकुलम्ः, देवदत्तस्य गुरुपुत्रः इस प्रकार के प्रयोग लोकसम्मत हैं। क्योंकि गुरु, शिष्य, पुत्र, माता आदि शब्दों का स्वार्थ सम्बन्ध सापेक्ष ही हैं। गुरु का अर्थ है शिष्य का गुरु तथा शिष्य का अर्थ गुरु का शिष्य यह सिद्ध है।

---

१. महाभाष्य २/१/१।
२. महाभाष्य २/१/१।
३. महाभाष्य २/१/१।

अतः इन शब्दों का सम्बन्ध सापेक्षतया समास में भी समास नहीं होता। भर्तृहरि ने भी इसी मत का समर्थन किया है।[१]

कारकों का दार्शनिक आधार

संस्कृत व्याकरण में कारकविवेचन की परम्परा अति प्राचीन है। भाष्यकार ने कारक की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है—'करोतीति कारकम्'[२] अर्थात् प्रत्येक कारक की क्रिया पृथक्-पृथक् होती है। कारकों में कर्त्ता का अपना एक विशिष्ट स्थान है। परन्तु करण, अधिकरण और कर्म भी अपनी-अपनी क्रिया को लेकर कर्त्ता है।[३] उदाहरण-स्वरूप यदि पाक क्रिया को लिया जाय तो बटलोई चढ़ाना, पानी मिलाना, चावल डालना, ईंधन लगाना जैसी क्रियायें प्रधान कर्त्ता को लेकर बनती है। फलतः देवदत्त आदि 'पाक' क्रिया का कर्त्ता है। किन्तु 'धारण' क्रिया को लेकर चला जाय तो पात्र ही पकाता है। उस दशा में अधिकरण कारक का कर्त्ता होना अव्याहत है। यदि 'पाक' की ज्वलन अवान्तर क्रिया को लें तो 'ईंधन पकायेंगे' और तब करण ही कर्त्ता होगा।[४] और ईंधन विश्लेषण को मुख्य व्यापार माना जाय और इस प्रकार कहा जाय कि 'चावल पकते हैं।' तो कर्म ही कर्त्ता बन जाता है। केवल अपादान और सम्प्रदान कारक कर्त्ता के रूप में प्रसिद्ध नहीं है।[५]

अतः इस दशा में केवल तीन ही कारक शेष बचते हैं। इसका समाधान कात्यायन ने पन्द्रहवें वार्तिक में कर दिया है। इसके भाष्य और प्रदीप में स्पष्ट कर दिया गया है कि कर्त्ता को पाणिनि ने स्वतन्त्र बताया है। तथा शेष कारक परतन्त्र होते हैं। यह स्वतन्त्रता और परतन्त्रता वक्ता की इच्छा के अधीन होता है। अतः यदि वक्ता धारण क्रिया को स्वतन्त्र मानता है तो स्थाली (बटलोई) स्वतन्त्र हो जायेगी और तब 'स्थाली पकाती है' यह प्रयोग होगा। उस दशा में देवदत्त आदि कर्त्ता नहीं होंगे। परन्तु यदि सभी क्रियाओं का संघात एक साथ लिया जाय तो स्थाली परतन्त्र हो जायेगी उस समय देवदत्त कर्त्ता होगा। उस अवस्था में वाक्य बनेगा—'देवदत्तः काष्ठैः स्थाल्यां ताण्डुलान् पचति।'

पतंजलि ने 'कर्त्ता' को प्रधान माना है। 'सर्वेषु साधनेषु सन्निहितेषु कर्त्ता प्रवर्त्तयिता भवति'[६] अर्थात् यदि सभी कारक एकत्र हों तो उस समय कर्त्ता अन्य कारकों का प्रवर्त्तक या प्रेरक होता है। कारक की परिभाषा देते हुए भाष्यकार ने इसी सन्दर्भ में कहा है—

'सामान्यभूता क्रिया वर्तते। तस्याः निर्वर्तकं कारकम्।'[७]

---

१. महाभाष्य वार्तिक ५।
२. महाभाष्य वार्तिक ५।
३. माभार्ष्य वार्तिक ७।
४. महाभाष्य वार्तिक ८-१०।
५. महाभाष्य वार्तिक १४-१५।
६. महाभाष्य वार्तिक १५।
७. महाभाष्य वार्तिक १५।

भर्तृहरि के अनुसार साधन क्रियाओं की निष्पत्ति में द्रव्य की शक्ति का नाम है और वे क्रियायें अपने आश्रय में तथा आश्रयान्तर में समवेत रहती है। भर्तृहरि कारक को द्रव्य और क्रिया का मध्यवर्ती तत्त्व मानने के पक्षधर हैं।

स्वाश्रये समवेतानां तद्वदेवाश्रयान्तरे।
क्रियाणामभिनिष्पत्तौ सामर्थ्यं साधनं विदुः॥
'द्रव्य क्रियाभिनिर्वृत्तिं प्रति साधनभावमुपैति।'[१]

अर्थात् क्रिया निष्पत्ति के प्रति द्रव्य साधन होता है। इसके स्पष्ट है कि द्रव्य और शक्ति (गुण) दोनों का साधनत्व भाष्यकार को मान्य है। जबकि हेलाराज के अनुसार द्रव्य परतन्त्र है। अतएव इसी कारण महाभाष्यकार ने द्रव्य को साधन कह दिया है। वस्तुतः शक्ति के माध्यम से ही द्रव्य साधन हैं। हेलाराज ने स्पष्ट किया है कि पदार्थ में अनेक शक्तियाँ होती है, परन्तु कहीं कोई शक्ति उद्भूत होती है तथा कहीं कोई अन्य शक्ति उद्भूत होती है। जिससे समयविशेष में शक्ति विशेष ही कारकविशेष के रूप में व्यवहार्य है। द्रव्य को कर्म, करण आदि नहीं कह सकते क्योंकि वह एक स्वभाव है। अतः एक ही पदार्थ विविध कारकों के रूप में नहीं हो सकता अन्यथा कारकों का सांकर्य आशंकित हो जाता है। इस दशा में कारक अनिश्चित हो जायगा तब व्यवहार भी अव्यवस्थित ही होगा।

साधनव्यवहारश्च बुद्ध्यवस्था निबन्धनः।
सन्नसन् वार्थरूपेषु भेदो बुद्ध्या प्रकल्प्यते॥[२]

अर्थात् कारकीय व्यवहार का कारण बुद्धि की अवस्था होती है। अतः अर्थरूपों में भेद हो अथवा न हो, बुद्धि द्वारा भेद कल्पित हो जाता है। तात्पर्य यह है कि ''आत्मानमात्मना हन्ति'' (अपने से ही अपनों को मारता है) जैसे स्थलों में एक ही अर्थ कर्त्ता, करण और कर्म तीन कारकों में प्रयुक्त है। स्पष्ट है कि यह बुद्धि-कल्पित भेद है जो शक्तिगत होता है द्रव्यगत नहीं।

महाभाष्यकार ने इस तथ्य को स्पष्ट करने हेतु यहाँ दो उदाहरण दिए हैं—'कंसं घातयति' और 'बलिं बन्धयति।' वर्तमान काल में इनका प्रदर्शन करते हुए उन्होंने कहा है कि अभिनेतागण कंस और बलि आदि की समृद्धियों का उत्पत्ति से नाश पर्यन्त प्रदर्शन करते हैं और इस प्रकार बुद्धिसत् विषयों को प्रकट करते हैं। वहाँ बुद्धिवासुदेव बुद्धिकंस को मारता है और बुद्धिवामन बुद्धिबलि को बाँधता है।[३]

वक्ता अपने-अपने बुद्धि-व्यापार का अर्थ पर आरोप करके शक्तिभेद की कल्पना कर लेते हैं। व्यक्ति को पदार्थ मानकर देखें तो उत्पाद्यमान वस्तु को कर्म

---

१. महाभाष्य, पा०सू० ५/१/६७।
२. वाक्यपदीय ३/७/३।
३. महाभाष्य, पा०सू०, ३/१/२६ तथा हेलाराज की टीका वाक्यपदीय ३/७/५ पर।

कारक कैसे बनाया जा सकता है, यह तभी होता है जब उसे बुद्धि में (कल्पित) कर लिया जाता है। अर्थात् सभी भावों की अपनी स्वतन्त्रता, परतन्त्रता और क्रमरूपता केवल कल्पनाजनित है। हेलाराज ने इसे एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझाया है— 'अमुक व्यक्ति मरना चाहता है।' यहाँ मरने की आशंका को लेकर तात्कालिकता सूचित करने हेतु मरने की इच्छा का कर्तृत्व पुरुष पर बुद्धि द्वारा कल्पित है। पूर्व क्षण में जो क्रिया होती है वही अपर-क्षण में कारक का रूप ले लेती है। इसमें चैतन्य ही विशिष्ट साधन है अतः मूल कारकतत्त्व केवल चैतन्य-निष्ठ है। जबकि व्यावहारिक कारक उसी की विविध शक्तियाँ हैं।[१] सभी कारक क्रियानिष्पत्ति मात्र में कर्त्ता हैं। व्यापार-भेद की अपेक्षा में करणत्व आदि सम्भव होते हैं।[२] अतएव महाभाष्य (पा०सू० २/३/७) में कहा गया है—'क्रियामध्यं चेत् कारकमध्यमपि भवति।' अर्थात् क्रिया मध्य ही कारकमध्य होता है।

सारांश यह है कि कारक क्रियाजनक द्रव्यनिष्ठ शक्तिविशेष का नाम है जो बुद्धि के विकल्प के अनुसार विविधता लेकर कर्त्ता, कर्म, आदि भेदों में विभक्त होता है। पाणिनि का सूत्र 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' इस तथ्य का ज्ञापक है कि परम चैतन्य ही स्वतन्त्र है और वही कर्त्ता है। द्रव्यरूप लेकर उनमें निहित शक्तियों से वह विविधता को ग्रहण करके विविध कारकों का व्यवहारगामी बनता है। कारक के भेदों के विवेचन में इसे आगे देखा जा रहा है।

कारक भेद

१. कर्त्ता कारक—स्वतन्त्रः कर्त्ता इस सूत्र द्वारा पाणिनि ने कर्त्ता को परिभाषिक किया है। इसमें स्वतन्त्र पद का अर्थ 'प्रधान' स्वीकार किया है। भर्तृहरि ने स्पष्ट कर दिया है कि स्वतन्त्रता विवक्षा के अधीन हैं। अतः वक्ता अपनी बुद्धि से जिस कारक के व्यापार को 'स्वतन्त्र' कल्पित करता है वही कर्त्ता होता है। अतः भट्टोजिदीक्षित ने कहा है—

''क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्त्ता स्यात्।''[३]

भाष्यकार ने यहाँ स्पष्ट किया है कि 'स्व' पद पुरुषवाचक है 'तन्त्र' शब्द प्रधानता का अर्थ देता है। अतः क्रिया पुरुषतन्त्र होती है, किन्तु यदि 'स्वतन्त्र' को ही कर्त्ता मान लिया जाय, तो प्रेरणा के स्थलों में मूल कर्त्ता का कर्तृत्व बाधित हो जाता

---

१. वाक्यपदीय, ३/७/१७।

२. वाक्यपदीय, ३/७/१८। वैयाकरण भूषण सार, सुबर्थ निर्णय, वैयाकरण सिद्धान्त-मञ्जूषा, बौद्धार्थ निरूपण।

३. सिद्धान्तकौमुदी, कारक प्रकरण, तृतीया विभक्ति।

है। जैसे—देवदत्त यज्ञदत्त से ओदन पकवाता है। यहाँ यज्ञदत्त अस्वतन्त्र है अतः यज्ञदत्त कर्त्ता कैसे कहा जायगा? भाष्यकार ने इसके समाधान हेतु स्पष्ट किया है कि यज्ञदत्त देवदत्त द्वारा प्रेरित होकर भी स्वतन्त्र है; क्योंकि वह चाहे तो क्रिया को करे या न करे।[१] कर्त्ता, क्रिया एवं कर्म का प्रवर्तन करने वाला है, किन्तु केवल वक्ता की इच्छा के परतन्त्र है अर्थात् वक्ता किसी को कर्त्ता न बनाना चाहे तो अन्य कारक को कर्त्ता के रूप में उपस्थापित कर सकता है; क्योंकि सभी कारक अपने-अपने व्यापार के कर्त्ता हैं।[२] क्रिया में जब व्यापार-भेद लाये जाते हैं तब व्यापारों में गौण-प्रधानभाव स्थापित हो जाते हैं। विवक्षा के अधीन प्रधान-कर्त्ता द्वारा जब गौण क्रियाओं के कर्त्ताओं की शक्तियाँ तिरोहित हो जाती हैं तब वे अन्य कारकों के रूप में प्रतिष्ठा पाते हैं, परन्तु तिरोहित होने पर भी वे सभी कारक अपने-अपने सम्पूर्ण व्यापारों से समन्वित रहते हैं।[३] दीवार में आवरण शक्ति और तलवार आदि में विदारण शक्ति सद् वस्तु का धर्म है, परन्तु वक्ता क्रिया होने के काल में उसका निरूपण करता है। तात्पर्यतः तीक्ष्णता, भार, कठिनता और संरचना इन अपने धर्मों से वेद्य वस्तु के प्रति खड्ग व्यापार करता है। शक्ति समुदाय के रूप में शक्तिमान् का ग्रहण होता है।[४]

वस्तुतः एक ही कर्तृत्व-शक्ति है जो सभी प्रवृत्तियों का निबन्धन है। विविध निमित्तों के वशीभूत वही कर्तृत्वशक्ति छः रूपों में विभक्त देखी जाती है।[५] हेलाराज ने कहा है कि अविद्या के विलीन होने पर सत्त्व ही प्रकाशित होता है। कर्त्ता का एकत्व भी शक्ति रूप है सत्तारूप नहीं; क्योंकि कर्त्ता में क्रियात्व और कारकत्व का द्वैत रहता है जो अद्वैत का विवर्तमात्र है। अतः व्याकरणदर्शन में कर्त्ता भी विकल्प-जनित है।

कर्मकारक—कर्तृरीप्सिततमं कर्म। अर्थात् "कर्त्ता क्रिया के द्वारा जिसे उत्कृष्ट रूप में प्राप्त करना चाहता है, वह कर्म है।"[६]

भट्टोजिदीक्षित ने उक्त सूत्र की वृत्ति में कहा है कि—

"कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्।"[७]

---

१. महाभाष्य पा०सू० १/४/५४। वार्तिक १-३।

२. वाक्यपदीय, ३/७/१८।

३. वाक्यपदीय ३/७/२०।

४. वाक्यपदीय ३/७/३१।

५. वाक्यपदीय ३/७/३७।

६. कर्तुरीप्सितमं कर्म। अष्टाध्यायी १४४८।

७. सिद्धान्त कौमुदी, कारक प्रकरण, द्वितीय विभक्ति।

नागेशभट्ट ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि कर्त्ता स्वनिष्ठ व्यापारजन्य फल के साथ जिसे सम्बद्ध करना चाहता है, वह कर्म है।[१] अर्थात् 'कर्त्ता' फल-जनक-व्यापाराश्रय होता है और 'कर्म' व्यापार-जन्य-फलाश्रय हुआ करता है।

अर्थात् 'कर्तृव्यापार-जन्य-फलाश्रयः कर्म' यह फलितार्थ हुआ। किन्तु जब हम कहते हैं कि 'ओदनं पचति' तब पाक क्रिया द्वारा जिसका जनन होता है वही ओदन होता है। पहले से ओदन कैसे कहा जाता है? 'तण्डुलान् पचति' यह कथन करने पर ठीक हो जाता है; क्योंकि तण्डुलों को ही पाक द्वारा ओदन बनाया जाता है। ओदन को पकाकर क्या बनाया जायेगा।

इसका समाधान करते हुए भाष्यकार ने कहा है कि ओदन यहाँ तण्डुलवाचक है जिसके पकाने से ओदन बनता है।[२] इसी सन्दर्भ में नागेश ने दूसरा समाधान देते हुए कहा है कि पाक फल है, जिसका आश्रय ओदन है। किन्तु जब 'तण्डुलः पचति' इस प्रकार कहा जाता है तब वहाँ तण्डुल पाकाश्रय नहीं है, पाकाश्रय होते ही ओदन हो जाता है। अतः फलाश्रय न होने पर भी फल-सम्बन्धी होने से तण्डुल की कर्म संज्ञा होती है। यहाँ फलाश्रय की उद्देश्यता ईप्सित तथा अनीप्सित दोनों में सम्भव है। अतः 'ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते' इस प्रकार के प्रयोगों में विष की भी कर्म संज्ञा होती है। जिसे पाणिनि ने 'अनीप्सित कर्म' कहा है।[३] कर्म के अनेक भेदों में अकथित, गौण तथा शेष 'कर्म' प्रधान होते हैं। इसी प्रधान कर्म की सिद्धि के लिए जिससे अन्य क्रिया का योग होता है वह 'गौण कर्म' कहा जाता है। उदाहरणार्थ 'गां दोग्धि पयः' इस प्रयोग में उद्देश्य 'पय' है अतः यही 'प्रधान कर्म' है। इसी 'पयः' को पाने के लिए 'गो' का दोहन क्रिया से योग होता है, अतः यह गौण कर्म है।

भर्तृहरि ने कर्म की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए उसे तीन भागों में विभाजित किया है—निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य कर्म।[४]

१. निर्वर्त्य कर्म में विद्यमान और अविद्यमान परिणामिनी प्रकृति (उपादान) को फलाश्रय नहीं बनाया जाता है। उदाहरणार्थ—मिट्टी से घड़ा बनता है। इस कर्म में घड़ा मिट्टी का परिणाम है, परन्तु यहाँ मिट्टी को कारण रूप में प्रस्तुत किया गया है उसे फलाश्रय नहीं बनाया गया है। मिट्टी का घड़ा बनता है; यहाँ घड़ा फलाश्रय है वही कर्म है; इससे घड़ा निर्वर्त्य कर्म है।

२. जहाँ निर्वर्त्य कर्म का परिणामी (उपादान कारण) फलाश्रय रूप में गृहीत होता है वह विकार्य कर्म कहा जाता है। जैसे मिट्टी का घड़ा बनाता है, मिट्टी ही विकार को प्राप्त होकर घड़ा का रूप प्राप्त कर लेती हैं अतः विकार्य कर्म मिट्टी को ही माना जाता है कोयले भस्म करते हैं आदि।[५]

---

१. लघुशब्देन्दु कौमुदी, कारक प्रकरण, द्वितीय विभक्ति।
२. महाभाष्य, पा०सू० १/४/४९।
३. तथायुक्तं चानीप्सितम्। अष्टाध्यायी १/४/५०।
४. वाक्यपदीय, ३/७/४५।
५. वाक्यपदीय ३/७/४७-४८।

३. जिससे क्रियागत विशेष की सिद्धि प्रत्यक्ष या अनुमान से नहीं पायी जाती है उसे प्राप्य कर्म कहते हैं। यथा—गाँव जाता है। इस वाक्य में क्रियाकृत विशेषता का गाँव में दर्शन नहीं होता। इसी प्रकार वृक्ष को देखता है। यहाँ देखने से वृक्ष में कोई विशेषता नहीं आती। ऐसा कर्म कर्तृव्यापार के प्रति उदासीन रहता है। गत्यर्थक और ज्ञानार्थक धातु विशेष रूप से इस वर्ग में आते हैं जिनकी क्रिया वस्तुतन्त्र रहती है परन्तु वस्तु उदासीन होती है।[१]

भर्तृहरि ने वैशैषिक के असत्कार्यवाद और सांख्य के सत्कार्यवाद के अनुसार उपर्युक्त दोनों की व्याख्या प्रस्तुत की है। तद्नुसार 'निर्वर्त्य कर्म' वह है जो वैशेषिक के मतानुसार असत् उत्पन्न होता है अथवा सांख्य के मतानुसार कारण में विद्यमान होकर जन्म से प्रकाशित होता है। इन दोनों मतों से उपर्युक्त दोनों वर्ग निर्वर्त्य कर्म में आ जाते हैं, जबकि विकार्य कर्म दो प्रकार के होते हैं।

१. जो उपादान के उच्छेद से उत्पन्न होता है। यथा—दूध से दही आदि। जिसे पुनः पूर्व की स्थिति में न लाया जा सके और न ही व्यवहार में प्रकृति का प्रयोग हो सके। अर्थात् दही को दूध नहीं कहेंगे, तथा दूसरा विकार्य कर्म वह है, जिसमें गुणान्तर की उत्पत्ति हो जाती है परन्तु प्रकृति का नाश नहीं होता। जैसे—सुवर्ण से कुण्डल के निर्माण की प्रक्रिया यहाँ कुण्डल भी वस्तुतः सुवर्ण ही है।[२]

पाणिनि ने प्रथम दो कर्मों को कर्त्ता से 'तुल्य क्रिया' माना है, जिनमें क्रिया का प्रभाव कर्त्ता और कर्म दोनों पर पड़ता है। फलतः तृतीय कर्म कर्त्ता से 'अतुल्य क्रिया' हो जाता है। अतः क्रिया के दो वर्ग बन जाते हैं—

१. कर्मस्थ क्रिया और

२. कर्तृस्थ क्रिया।

यह कर्म भी जब कर्त्ता का रूप ले लेता है और अपने व्यापार में स्वतन्त्र विवक्षित होता है तब उसे 'कर्म-कर्त्ता' कहते हैं। कात्यायन ने स्पष्ट कहा है—

कर्मकर्तरि कर्तृत्वं स्वातन्त्र्यस्य विवक्षितत्त्वात्।[३]

इस विषय में भर्तृहरि ने बताया है कि कर्त्ता कर्म का प्रेरक होता है; क्योंकि मूल होने वाला (भविता) कर्म है। कर्त्ता भावयिता होता है। इस भावयितृत्व की विवक्षा न हो तो कर्म अपने क्रियांश में स्थित हो जाता है। उस दशा में वह कर्त्ता का ईप्सिततम न रह जाने से कर्म नहीं रह जाता है। फलतः कर्त्ता रूप में अवस्थित होता है। उस दशा में 'चावल स्वयं पकते हैं' काष्ठ स्वयं कटता है। आदि स्थिति सौकर्य के प्रकाशन हेतु शब्दव्यवहार में आती है। अर्थात् कर्तृ-निरपेक्ष क्रिया सिद्ध हो जाती है।[४]

---

१. वाक्यपदीय ३/७/५१।

२. वाक्यपदीय ३/७/४७-५०।

३. वार्तिक, पा०सू० ३/१/८७।

४. वाक्यपदीय ३/७/५६।

एक ऐसी स्थिति आती है जब कर्म अपने कर्त्ता का प्रेरक बन जाता है। उदाहरणार्थ—बालक अपने को दिखाता है। यहाँ बालक स्वयं देखने वाले का प्रेरक बन गया है।[१] ऐसा सभी ज्ञानार्थक धातुओं के सन्दर्भ में देखा जाता है, जहाँ फलाश्रय विषय ही द्रष्टा का प्रेरक होता है। उदासीन कर्त्ता को भी वह जानने में प्रेरित कर लेता है।[२] कर्म फलाश्रय होता है पर द्रव्य होने के कारण उसका स्वरूप स्वभावसिद्ध होता है। क्रिया ही साध्य होती है।[३]

वाक्यपदीयम् के अनुसार निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य तीनों प्रकार के कर्म शक्तिरूप साधन का आधार है। वह पद द्वारा सिद्धरूप में ही प्रतिपादित होता है। क्रिया ही साध्य रहती है। अतः यदि ओदन बुद्धि में सिद्ध नहीं होगा तब तक वह द्रव्य रूप में पदार्थ ही नहीं बन सकता। क्रिया की सिद्धता का आरोप करके ही कर्म को साध्य कहा जाता है। बुद्धि द्वारा कल्पित रूप में कर्म सिद्ध ही रहता है।

३. करण कारक—छः कारकों में अन्यतम कारक 'करण' है। जिसे पाणिनि ने 'साधकतमं कारणम्'[४] वाक्य द्वारा परिभाषित किया है। अर्थात् 'करण' साधकतम होता है। 'करण' कारक के अर्थ के विषय में इसका अभिप्राय स्पष्ट करते हुए काशिका में लिखा है—

क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं करणसंज्ञं स्यात्।

अर्थात् क्रिया की सिद्धि में प्रकृष्ट उपकारक होने के कारण विवक्षित कारक 'करण' संज्ञक होता है।[५]

प्रकृष्ट के विषय में इन्होंने कहा है कि जिस कारक के व्यापार के ठीक पश्चात् क्रिया की सिद्धि हो जाती है, वह प्रकृष्ट कारक होता है। प्रकृष्ट उपकारक ही करण होता है। इन्होंने साधकतम का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहा है कि कर्त्ता के अधीन रहने वाले जिस अन्य द्रव्य के व्यापार से अव्यवहित क्रिया की सिद्धि होती है वह करण कारक होता है।[६] भाष्यकार ने कहा है कि सभी कारक क्रिया के साधक होते हैं परन्तु सभी 'करण' नाम को नहीं प्राप्त करते अपितु जिसकी क्रियाशीलता के तुरन्त बाद क्रिया की सिद्धि हो जाती है वही करण पदवाच्य होता है। इसी कारण सूत्रकार ने 'तमप्' प्रत्यय लगाया है जिससे अतिशय का बोध होता है। जिसका सार निकलता है कि साध्यभूत क्रिया की सिद्धि में जो अतिशय या प्रकृष्ट साधक होता है उसे करण कहते हैं। जिसका स्पष्टीकरण भर्तृहरि ने इस प्रकार किया है—

---

१. वाक्यपदीय ३/७/६३।
२. वाक्यपदीय ३/७/६३।
३. क्रिया चैवहि भाष्यते, स्वभावसिद्धं द्रव्यम्।
४. पाणिनीय सूत्र १/४/४२।
५. काशिका, सू० १/४/४३।
६. सिद्धान्तकौमुदी बालमनोरमा, सू० ५६०।

क्रियायाः परिनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम्।
विवक्ष्यते यदा यत्र करणं तत् तदा स्मृतम्॥[१]

१. अन्य कारकों में व्यापार और क्रिया की फल-निष्पत्ति के मध्य किसी न किसी कारक के व्यापार का व्यवधान रहता है। कर्त्ता के व्यापार के अनन्तर करण का व्यापार जो कर्तृव्यापार को व्यवहित करता है, जबकि करणव्यापार और फल निष्पत्ति के मध्य में कोई व्यवधान नहीं होता। उदाहरणार्थ—राम ने बाण से बाली को मारा। इस वाक्य में राम के द्वारा बाण चलाने के अनन्तर ही बाली की मृत्यु होती है जो क्रिया का फल है तथा इस फल और राम के व्यापार के मध्य में बाण का व्यापार व्यवधायक है। बाण के व्यापार और फलनिष्पत्ति में अन्य किसी के व्यापार के व्यवधान न होने के कारण बाण में ही अतिशय है। अतः वही साधकतम होने से करण हैं।

२. कारकीय व्यवहार बुद्धि की अवस्था पर अवलम्बित होता है, जो वक्ता की इच्छा से बदलता है, जिसे विवक्षा कहते हैं और इसी विवक्षा के अधीन कारण प्रयोग में लाये जाते हैं। इसीलिए वह कर्त्ता भी बन सकता है। यदि पकाने की क्रिया में ज्वलन व्यापार को प्रधान मान लिया जाय तो 'काष्ठानि पचन्ति' में करण रूप में आने वाला काष्ठ कर्त्ता का रूप ले लेता है और उनकी ज्वलन-क्रिया करण का रूप ले लेती है।

भर्तृहरि के अनुसार कारणत्व कोई एक निश्चित पदार्थ नहीं है; क्योंकि विवक्षा में कोई वस्तु यथास्थिति नहीं रहा करती। अतः यही कारण है कि स्थाली में पकाने के स्थान पर स्थायी से पकाने का व्यवहार भी होता है। विवक्षावश एक वाक्य का अधिकरण दूसरे वाक्य का करण हो गया है।[२] अतः पाणिनि द्वारा प्रयुक्त प्रकर्ष का आशय इतना ही है कि अन्य कारक की अपेक्षा में अव्यवधान को लेकर करण को प्रकृष्ट उपकारक माना जाता है।[३] जिससे निष्कर्ष यही निकलता है कि प्रयोगकर्त्ता जिस वाक्य का प्रयोग करता है, उसमें कर्त्ता अन्य कारकों का प्रयोक्ता होता है। उसका व्यापार स्वतन्त्र होता है फिर भी क्रिया की सिद्धि में दूर पड़ जाता है; क्योंकि करण द्वारा सभी का व्यापार व्यवहित हो जाता है।[४]

अतः करण भी कर्त्ता हो सकता है और विशेष स्थितियों में प्रसिद्ध कर्त्ता को करण रूप में व्यवहृत किया जा सकता है। भर्तृहरि ने कहा—

क्रियासिद्धौ प्रकर्षो वा न्यग्भावस्त्वेव कर्तरि।
सिद्धौ सत्यां हि सामान्यं साधकत्वं प्रकृष्यते॥[५]

---

१. वाक्यपदीय ३/७/९०।
२. वाक्यपदीय ३/७/११।
३. वाक्यपदीय ३/७/९३।
४. वाक्यपदीय ३/७/९४।
५. वाक्यपदीय ३/७/९५।

कर्त्ता अन्यों के व्यापारों को अपने व्यापार-वृत्त में तिरोहित कर लेता है जबकि अव्यवहित 'व्यापाररूप प्रकर्ष' करण की सम्पत्ति है और दोनों विवक्षाधीन हैं। करण और कर्त्ता दोनों विवक्षाधीन हैं। अतः शब्द से ही इनकी प्रतीति होती है।[१] कर्त्ता कर्म-फल भोक्ता है वह स्वयं अपनी शक्ति रखता है और करणादि की शक्ति उपार्जित कर लेता है तथा अन्य शक्तियों को स्वाधीन बनाकर या तो प्रवर्त्तक बनता है या निवर्तक बन जाता है। कर्त्ता का कोई प्रतिनिधि नहीं होता। वह दूर से भी क्रिया सम्पन्न कराता है। वक्ता की बुद्धि अवस्थाभेद से कल्पित भेद लाती है तो एक ही पदार्थ कहीं कर्म कहीं कर्ता और कहीं करण के रूप में देखा जाता है।[२]

उदाहरणार्थ—हन्ति आत्मानम्, आत्मना हन्यते।[३]

उपर्युक्त उदाहरण में आत्मा ही कर्त्ता, कर्म और करण के रूप में देखा जाता है। करणत्व और कर्तृत्व विवक्षा के पराधीन है, अतः खड्ग आदि को कर्त्ता बनाया जाय तो उसकी तीक्ष्णता आदि का करणत्व विवक्षित होता है और तीक्ष्णता आदि को कर्त्ता मान लिया जाय तो आत्मा ही कर्त्ता और करण दोनों रूपों में व्यवस्थित होता है—असि की तीक्ष्णता अपने से ही छेदन करती है।[४]

वस्तुतः करण कारक सर्वथा विवक्षा-पराधीन है। आत्मा ही शक्ति विशेष के अनुसार विविधता ग्रहण करती है। अन्य दर्शनों में भी इसी मत का समर्थन मिलता है।

४. सम्प्रदान कारक—कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्।[५] अर्थात् कर्म द्वारा कर्त्ता को जो अभिप्रेत होता है। वह शक्ति अथवा पदार्थ सम्प्रदान कारक कहलाता है।

भट्टोजिदीक्षित तथा काशिकाकार ने 'कर्मणा' पद का अर्थ दान क्रिया के कर्म से किया है।[६] अतः 'ब्राह्मणाय गां ददाति' आदि प्रयोगों में तो ब्राह्मण की सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है, परन्तु 'रजकाय वस्त्राणि ददाति' में रजक की सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती; क्योंकि वस्त्रों का स्वामी वस्त्रों पर से अपना अधिकार समाप्त नहीं करता। अतः वार्तिककार के मत से यह वाक्य अशुद्ध है। 'रजकस्य वस्त्राणि ददाति' यह षष्ठ्यन्त प्रयोग होता है, परन्तु भाष्यकार इसे अन्वर्थ संज्ञा नहीं मानते, इसलिए वे 'खण्डिकोपाध्यायः शिष्याय चपेटां ददाति।' इस वाक्य में शिष्य को सम्प्रदान मानते हैं अन्यथा यहाँ भी 'शिष्यस्य' का प्रयोग करना चाहिये था।[७]

---

१. वाक्यपदीय ३/७/१०३।
२. वाक्यपदीय ३/७/१०४।
३. महाभाष्य, पा०सू० ३/१/८७।
४. वाक्यपदीय ३/७/९६। देखिए प्रौढ़ मनोरमा कारकप्रकरण, तृतीयाविभक्ति, लघुशब्देन्दुशेखर, कारकप्रकरण, तृतीयाविभक्ति।
५. पा०सू० १/४/३२।
६. काशिका, १/४/३२ तथा सि० कौ सू० ५६९।
७. महाभाष्य १/४/३२।

यहाँ भाष्यकार के अनुसार निम्नलिखित विवेचन अभीष्ट है—

१. कर्म से कर्म कारक और क्रिया दोनों अर्थ लिए जाते हैं। उदाहरणार्थ— 'उपाध्यायाय गां ददाति' यहाँ 'गो' 'दान क्रिया' का कर्म है जिसके द्वारा कर्त्ता उपाध्याय को उद्देश्य बनाता है जो स्वीकरण व्यापार से कर्त्ता का अभिप्रेत क्रिया को पूर्णता देता है। कर्म का दूसरा अर्थ क्रिया लेकर है क्रिया के उद्देश्य को भी सम्प्रदान कहा जाता है। जैसे—'पत्ये शेते' यहाँ स्त्री की शयन क्रिया का उद्देश्य पति है जो शयनक्रिया के अनुकूल अपने व्यापार द्वारा पूर्णता देकर कारक बनता है।

२. प्रथम वर्ग का सम्प्रदान कर्म से व्यवहित कारक है। फिर भी क्रिया का जनक है, क्योंकि दान में स्व-स्वत्व की निवृत्ति और पर-स्वत्व का उत्पादन सम्मिलित हैं। इन दोनों में से अपने स्वत्व का त्याग कर्तृनिष्ठ व्यापार हैं जबकि परस्वत्व के उत्पादन का आश्रय उपाध्याय हैं।[१]

भट्टोजिदीक्षित जी ने स्पष्ट किया है 'रजकाय वस्त्रं ददाति' जैसे प्रयोग नहीं हो सकते, क्योंकि दान वहाँ पर लाक्षाणिक हैं। परन्तु दूसरी ओर उन्होने इस प्रकार के प्रयोगों को स्वीकार भी किया है।[२]

ऐसे अवसरों पर दान शब्द अपने मूल अर्थ में नहीं प्रयुक्त होता। भर्तृहरि के अनुसार कर्त्ता का त्याग स्व-स्वत्व की निवृत्ति के साथ परस्वत्व का सम्पादन हैं। उसका द्वितीय अंग कर्म द्वारा अभीष्ट रहता है जिसे सम्प्रदान इस प्रकार से सम्पन्न करवाता है या तो निराकरण न करके स्वीकार कर लेता है या स्वयं प्रेरणा देकर दान करवाता है अथवा दिए हुए को अनुमति प्रदान कर देता है। यह सब प्रकार से व्यापाराश्रय हैं, अतः उसे कारक कहा जाता है। न्यायमत में धातु से उपस्थाप्य चतुर्थी विभक्ति के स्वार्थ को सम्प्रदान कहा गया है जिससे स्वत्व का त्याग तथा परकीयत्व का उत्पादन यथावत् अभिप्रेत हैं। वहाँ 'प्रदान' को स्वाम्यकरण कहा गया है जिसका आश्रयी-भूततत्त्व सम्प्रदान कारक है। अर्थात् सम्प्रदान वह है जो क्रिया-जन्य फतगामी के रूप में कर्त्ता की इच्छा का विषय हो।[३]

वस्तुतः सम्प्रदान के सम्बन्ध में करण के समान मतभेद नहीं है। यह एक उदासीन कारक है अथवा व्यवहित कारक हैं। इसमें यह आवश्यक नही है कि कर्त्ता की क्रिया वृत्ति में व्याप्य होकर उसकी क्रिया आ ही जाय; क्योंकि वह निराकरण में स्वतंत्र हैं। परन्तु उसकी स्वतंत्रता के बिना कर्त्ता की क्रिया सम्पन्न नहीं हो सकती। अतः उसका कारकत्व अव्याहत हैं।

१. दानं च अपुनर्ग्रहणाय स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वोत्पादनम्। प्रौढ़ मनोरमा; कारक प्रकरण, चतुर्थी विभक्ति।

२. खण्डिकोपाध्यायः तस्मै शिष्याय चपेटां ददाति, वही।

३. विशेष के लिए देखिए, न्यायकोश।

५. अपादान कारक—ध्रुवमपायेऽपादानाम्।[१] अपादान का तात्पर्य हैं विश्लेष। अर्थात् अपाय (विश्लेष) के साध्य होने पर जो ध्रुव (अवधि) शक्ति होती हैं उसे अपादान कहते हैं।[२] यह भी विवक्षाधीन हैं। अतः वृक्ष से पत्ते गिरते हैं और वृक्ष का पत्ता गिरता है, ये दोनों प्रयोग हो सकते हैं।

नागेश का कथन हैं कि यह अपाय सर्वदा वास्तविक नहीं होता, कभी-कभी यह बुद्धिपरिकल्पित भी होता है।[३] उदाहरणार्थ-''माधुराः पाटिलपुत्रेभ्यः आढ्यतराः चैत्रान् मैत्रः सुन्दरः।''

इन प्रयोगों में बुद्धिकृत अपादानता को मानकर ही पंचमी विभक्ति का प्रयोग होता है।

''पापाज्जुगुप्सते, धर्मात् प्रमाद्यति'' आदि वाक्यों में भी बुद्धिगत अपादानता है। अतएव पतंजलि ने ''जुगुप्साविराम-प्रमाद्यार्थानामुपसंख्यानम्''[४] इस वार्तिक का इसी आधार पर खण्डन किया है कि यहाँ पर भी बुद्धिगत अपादानता हैं।[५]

वार्तिकाकार के अनुसार यदि 'ध्रुव' को ही अपादान माना जाय तो गतियुक्त पदार्थों की अपादान संज्ञा न होगी। जैसे दौड़ते हुए घोड़े से गिरता है इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि वहाँ घोड़े का अध्रुवत्व अविवक्षित हैं।[६] इसीलिए धावतोऽश्वात्पतति के प्रति अवधिभूत होने से उसकी अपादान संज्ञा हो जाती हैं।[७] इसी के एक अन्य समाधान में वाक्यपदीयकार ने कहा हैं-

अपाये यदुदासीनं चलं वा यदि वाऽचलम्।
ध्रुवमेवातदावेशात् तदपादानमुच्यते।।[८]

अर्थात् विश्लेष की अपेक्षा से जो पदार्थ उदासीन होता है, वह चल हो या अचल हो 'ध्रुव' ही माना जाता है। अतः वह अपादान कहा जाता है। भट्टोजिदीक्षित के अनुसार दौड़ते हुए अश्व से गिरने में यद्यपि दो गतियाँ हैं, परन्तु विभागजनक गति गिरना हैं, आश्रय नहीं है। फिर भी कर्त्ता के विभाग का आश्रय हैं।

नागेश भट्ट ने स्पष्ट किया है कि-जहाँ-जहाँ अपादानत्व शक्ति का प्रयोग होता है वहाँ-वहाँ प्रकृत-क्रिया में विभाग अर्थ अवश्य सम्मिलित रहता है।

---

१. पाठ सू० १/४/२४।
२. अष्टाध्यायी १/४/२४।
३. मंजूषा कारकार्थत्रिचार।
४. वार्तिकम् महा०, १/४/२४।
५. महाभाष्य १/४/२४।
६. महाभाष्य पा०सू०, १/४/२४। वार्तिक, २-३।
७. वा०प०, वै०मू०सा० सुब० नि० में उद्धृत।
८. वैयाकरण-भूषणसार, २४ पर उद्धरण।

वस्तुतः सभी क्रियाओं के संयोग और विभाग दोनों अपादान के प्रसंग में क्रियागत विभाग अपने में उद्भूत रहता हैं।

भर्तृहरि अपादान के तीन भेद स्वीकार करते हैं—१. 'ग्रामात् आगच्छति।' यहाँ विभागाश्रय अपादान निर्दिष्ट हैं।

२. जिसमें गौणरूप से अन्य क्रिया विद्यमान रहती हैं। जैसे- मटके में पकाता है। यहाँ मटके से निकालकर पकाना अभिप्रेत हैं। निकालना क्रिया का ग्रहण रूप से मान्य हैं। इसे उत्पत्तिविषयक अपादान कहा जाता है।

३. अपादान के तृतीय भेद के अन्तर्गत 'अपेक्षितक्रियअपादान' आता है। जिसमें प्रकर्ष और अपकर्ष की क्रियायें वाक्य में नहीं आतीं परन्तु अपेक्षित होती हैं। यथा मथुरावाले पटनावालों से अधिक धनी हैं। यहाँ माधुरों में प्रकर्ष क्रिया और पाटलिपुत्रों में अपकर्ष क्रिया की अपेक्षा से बुद्धिगत विभाग बनता है।[1]

जब दौड़ते हुए घोड़े से देवदत्त गिरता है तब गिरने में घोड़ा ध्रुव हैं। जो विलगाव से आविष्ट होता है वह अध्रुव होता है और विश्लेषण क्रिया का कर्त्ता कहा जाता है। इसके विपरीत जो विश्लेष से आविष्ट नहीं होता वह ध्रुव होने से अपादान हैं।[2]

भेदाभेदौ पृथग्भावः स्थितिश्चेति विरोधितः।
युगपन्न विवक्ष्यन्ते सर्वे धर्मा वलाहके॥[3]

इसका तात्पर्य यह है कि धुँआ, आग और पानी का संघात ही मेघ है जिसमें भेद और अभेद, पृथग्भाव तथा स्थिति से सभी विरोधी धर्म एक साथ रहते हैं। सब की एक साथ विवक्षा नहीं रहती है; कहीं किसी की विवक्षा होती है, कहीं किसी अन्य की । भेद को लेकर मेघ अपादान है और तब मेघ से बिजली चमकती हैं। अभेद स्थिति होने पर मेघ अधिकरण है बिजली उसमें समवेत हैं। अतः मेघ में बिजली चमकती हैं। अपादान वस्तुतः विभाग क्रिया का आश्रय है। संयोग और विभाग से पृथक् 'क्रिया' अकल्पनीय है। अतः अपादानता किसी न किसी रूप में वास्तविक शक्ति है। वाक्य में उसका प्रयोग वक्ता की इच्छा के अधीन है। यह शक्ति की विविधता बुद्धि में आकार लेती है और वाणी में व्यक्त होती है। यह सब वाग्ब्रह्म की लीला है।

६. अधिकरण कारक—आधारोऽधिकरणम्।[4] अर्थात् क्रिया का आधार अधिकरण हैं। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए टीकाकार का कथन हैं कि आधार

---

१. वाक्यपदीय ३/७/१३६।
२. वाक्यपदीय ३/७/१३९।
३. वाक्यपदीय ३/७/१४४।
४. सिद्धान्त कौमुदी बाल मनोरमा, सू० ६३२।

अधिकरण होता है, क्योंकि क्रियान्वयी कारक होता है। अतः क्रिया के आधार को 'अधिकरण कारक' कहेंगे। अधिकरण की परिष्कृत परिभाषा करते हुए नागेश ने कहा है कि कर्त्ता और कर्म के द्वारा फल तथा व्यापार के आधार को अधिकरण कहते हैं।[१] कर्त्ता और कर्म अधिकरण संज्ञा के बाधक हैं। अतएव साक्षात् आधार कर्त्ता तथा कर्म ही होते हैं। असाक्षात् आधार में 'अधिकरण कारक' होता है।[२] यथा-''रामः स्थाल्यां ओदनं गृहे पचति'' इस वाक्य में गृह राम और स्थाली का साक्षात् आधार है। अतः वहाँ क्रमशः कर्त्ता और कर्म कारकों का प्रयोग होता है।

इस वाक्य में स्थाली की तथा कर्तृकारक के व्यापार के आधार गृह की असाक्षात् आधार होने के कारण अधिकरण संज्ञा होती हैं।

अधिकरण कारक के सूत्र पर भाष्य नहीं मिलता परन्तु पतंजलि ने उसे धारण का आश्रय बताया है।[३]

भट्टोजिदीक्षित ने उक्त सूत्र की वृत्ति में कहा है ''कि कर्त्ता द्वारा कर्तृनिष्ठ क्रिया का अथवा कर्म द्वारा कर्मनिष्ठ क्रिया का आधारभूत कारक अधिकरण हैं।''[४] उदाहरणार्थ-'राम चटाई पर बैठता है' इसमें चटाई पर बैठने में चटाई राम का आधार है और राम बैठना क्रिया का आधार है।

''रामः स्थाल्यां ताण्डुलान् पचति।'' इस वाक्य में स्थाली तण्डुल कर्म का आधार है और उसके द्वारा कर्म की क्रिया का भी आधार हैं।

महाभाष्यकार ने अधिकरण के तीन प्रकार बताए हैं-अभिव्यापक, औपश्लेषिक तथा वैषयिक।[५]

चटाई पर बैठना, मोक्ष में इच्छा करना और तिलों में तेल का होना क्रमशः इसके उदाहरण हैं। भर्तृहरि ने अधिकरण की परिभाषा देते हुए कहा है—

कर्तृकर्मव्यवहितामसाक्षाद् धारयत् क्रियाम्।
उपकुर्वत् क्रियासिद्धौ शास्त्रेष्वधिकरणं स्मृतम्॥[६]

अर्थात् शास्त्र में अधिकरण वह है जो कर्त्ता अथवा कर्म से व्यवहित क्रिया को असाक्षात् धारण करता हुआ क्रिया की सिद्धि में उपकारक होता है। संयोग और समवाय सम्बन्धों को लेकर अधिकरण के उपकारक तीन प्रकार के हो जाते हैं-गुरुत्व के अविनाश में अभिव्यापक अधिकरण होता है, जैसे तिल में तैल। औपश्लेषिक अधिकरण में गुरुत्व के प्रतिबन्ध में स्वतंत्रता रहती हैं, जैसे पलंग पर सोना। प्रथम

१. परमलघुमंजूषा। कारक विचार।
२. मंजूषा (कारकार्थविचार)
३. महाभाष्य, पा०सू० १/४/२३।
४. सिद्धान्त कौमुदी, कारक प्रकरण, सप्तमी विभक्ति।
५. महाभाष्य, पा०सू० ६/१/७२।
६. वाक्पदीय ३/७/१४८।

उदाहरण में गुरुत्व का नाश होने पर तिल में तेल नहीं हो सकता। दूसरे उदाहरण में कर्त्ता के गुरुत्व का प्रतिबन्ध करके पलंग, पतन से बचाता है। वैषयिक अधिकरण में दिग्‌विशेष से अवच्छेद होता है, जैसे-आकाश में पक्षी। वस्तुतः मूल अधिकरण आकाश है। सभी अधि मूर्तियाँ उसी से विभक्त होती हैं। दूसरा आधार काल हैं। देश और काल की अधिकरणता सार्वत्रिक हैं।[१]

काल और आकाश सत्ता की शक्तियाँ हैं। मूलरूप से सत्ता ही सबकी समवायिनी हैं। सभी कारक-शक्तियाँ उसी की उपशक्तियाँ हैं।

ऊपर वर्णित सभी कारकों के विषय में ''विवक्षातः कारकाणि भवन्ति'' यह उक्ति कही गयी हैं, जिसका तात्पर्य हैं कि सभी कारक प्रायः विवक्षाधीन होते हैं। तथा पूर्व कर्त्ता कारक में इसका उदाहरण दिया जा चुका हैं कि स्वव्यापार की स्वातन्त्र्य की विवक्षा में कर्म, करण तथा अधिकरण भी कर्त्ता बन जाते हैं। करण के रूप में भी जिसमें साधकतमता की विवक्षा होती हैं, वही करण कारक बन जाता है, उदाहरणार्थ-''स्थाल्यां पचति स्थाल्या पचति'' भी प्रयोग प्रचलित हैं। स्वव्यापार में स्वतंत्र न होने के कारण सम्प्रदान, अपादान कभी भी कर्त्ता नहीं बन सकते। इसी आधार पर सम्बन्ध की विवक्षा में प्रायः सभी कारकों के स्थान पर षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है।

यथा—मातुः स्मरति, फलानां तृप्तः रजकस्य वस्त्राणि ददाति, वृक्षस्य पत्रं पतति, नराणां नापितो धूर्तः। इन वाक्यों में क्रमशः कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण के स्थान पर षष्ठी विभक्ति का प्रयोग देखा जाता है। ''सतां गतम्'' वाक्य में सत् सम्बन्धी गमन अर्थ में यहाँ कर्तृत्व सम्बन्ध के द्योतन के लिए षष्ठी का प्रयोग हुआ हैं।

७. सम्बन्ध—'सम्बन्ध' कारकों से भिन्न परन्तु कारकों के शेष रूप में स्वीकृत हैं। अन्य कारकों का क्रिया से सीधा सम्बन्ध होता है, उस प्रकार का सम्बन्ध इस का नहीं है।[२] अतएव इसे 'शेष' के रूप में माना जाता है, इसीलिए भट्टोजीदिक्षित ने लिखा है—'कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः शेषः।' कर्म आदि कारक तथा प्राति-पदिकार्थ से अतिरिक्त जो अर्थ हैं, वे 'शेष' शब्द से कहे जायेंगे। कारक और प्रातिपदिकार्थ से अतिरिक्त बचता है, जो नहीं कहा गया है। इस पर भर्तृहरि का कथन हैं कि-

सम्बन्धः कारकेभ्योऽन्यः क्रियाकारकपूर्वकः।
श्रुतायामश्रुतायां वा क्रियायां सोऽभिधीयते॥

वाक्यपदीय ३/७/१५६।

---

१. वाक्पदीय ३/७/१४९-१५४।

२. सिद्धान्त कौमुदी सूत्र - ६०६।

कारक तथा प्रातिपदिकार्थ से अतिरिक्त 'सम्बन्ध' होता है। यह सम्बन्ध भी क्रिया कारक पूर्वक ही होता है। चाहे क्रिया श्रुत हो या अश्रुत, पर सम्बन्ध रहता है। इससे सिद्ध होता है कि 'शेष' पद से इस सूत्र में 'सम्बन्ध' विवक्षित हैं। 'अश्रुतायाम्' से तात्पर्य यह हैं कि क्रिया सुनाई न पड़े। यदि क्रिया का प्रयोग न करके केवल 'राज्ञः पुरुषः' कहा जाय तो भी 'अस्ति' क्रिया का अध्याहार करना आवश्यक हैं। ऐसी स्थिति में भी राजा और पुरुष में 'स्वस्वामिभाव' रूप की प्रतीति होती हैं, यही सम्बन्ध हैं। राजा और पुरुष में वर्तमान इस सम्बन्ध के ज्ञान में भी 'पुरुषः अस्ति' ऐसा ज्ञान बना रहता है। इससे प्रतीत होता है कि सम्बन्ध भी क्रियाकारक-पूर्वक ही होता है। नागेश ने इस सम्बन्ध को स्वस्वामिभाव, अवयवावयवीभाव, जन्यजनकभाव, विषयविषयीभाव अनेक प्रकार का बताया है।[१] स्वयं भाष्यकार ने लिखा है कि 'षष्ठी' के एक सौ अर्थ होते हैं।[२]

अर्थात् प्रातिपदिकार्य तथा कारकार्थ के अतिरिक्त पदार्थों का 'शेष' सम्बन्ध षष्ठी का अर्थ हैं। क्योंकि सम्बन्ध दो पदार्थों का प्रातिपदिकों में रहने वाला धर्म है। इसका क्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। अतः क्रिया का जनक न होने के कारण यह कारक नहीं कहलाता है, इसीलिए पाणिनि ने कारकाधिकार में 'सम्बन्ध' का निर्देश नहीं किया है।

८. सम्बोधन—सम्बोधन एक भाव हैं जिसे 'अभिमुखी भाव' कहा जाता है। अभिमुखी भूत अर्थ ही सम्बोध्य हैं जिसे क्रियाओ में नियुक्त किया जाता है। अतः वह कर्त्ता से भिन्न नहीं है, केवल सम्बोधन के आश्रयीभाव अथवा अभिमुखीभाव की अधिकता है।[३]

●●●

---

१. मंजूषा, कारक विचार।
२. एकशंत षष्ठ्यर्थाः। महाभाष्य १/१/४९।
३. सिद्धस्याभिमुखीभावमात्रं सम्बोधनं विदुः।
प्राप्ताभिमुख्यो ह्यर्थात्मा क्रियासु विनियुज्यते॥

पञ्चम अध्याय

महाभाष्यगत भाषा-दर्शन

भाषा का स्वरूप

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने महाभाष्य के प्रथम आह्निक में व्याकरण के प्रयोजनों के प्रसंग में भाषा के 'तत्त्व ज्ञाता' के लिए 'वाग्योगविद्' शब्द का प्रयोग किया है तथा इसी आह्निक के अन्त में व्याकरण की उपयोगिता के प्रसंग में उन्होने लिखा हैं-[१] 'अक्षरतत्त्व' तथा 'वर्ण तत्त्व' का यथार्थ ज्ञान ही व्याकरण हैं।'

'अक्षर-समूह' वाक्तत्त्व अथवा 'बाग्ब्रह्म' के साक्षात्कार के लिए ही व्याकरणशास्त्र का अध्ययन आवश्यक हैं।

महाभाष्यकार ने भाषा के अर्थ में स्थूलतः वाक् पद (बैखरी रूप) का प्रयोग अनेकशः किया है। क्योंकि व्याकरण की सार्थकता एवं उपादेयता भाषा के क्षेत्र में ही संभव है। महाभाष्य के प्रथम आह्निक में ही प्रयुक्त 'यो वा इमाम्' 'उतत्त्व पश्यन्नददर्श वाचम्' 'यत्र धीराः मनसा वाचमक्रत' 'भद्रैषां लक्ष्मीः निहिताधिवाचि', इन उदाहरणों में प्रयुक्त वाक्पद का प्रयोग इन्होंने भाषा के अर्थ में किया है। वाक्तत्त्व का विवेचन ऋग्वेद के 'वागाम्भृणी सूक्त' में भी उपलब्ध होता है।[२] इन मंत्रों का ऋषि वाक् आम्भृणी तथा देवता (प्रतिपाद्य विषय) 'वाक्' हैं। इस सूक्त के अनुसार वाक् ही समस्त तत्त्वों का धारक तथा पोषक हैं। उससे वाक्त्व या ऋषित्व प्राप्त होता है तथा इसी से समस्त ब्रह्माण्ड की सृष्टि होती हैं। वाक्सूक्त के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए आक्सफोर्ड जिश्वविद्यालय के प्राध्यापक श्री सईश ने आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों का ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास किया है।[३]

''इन मंत्रों में वैदिक ऋषि का वाक्तत्त्व के विषय में जो वक्तव्य हैं वह बहुत ही गम्भीर, विचारपूर्ण, भाषा-विज्ञान की दृष्टि से अति महत्त्वपूर्ण तथा बहुत ही दूरदर्शितापूर्ण हैं।'' इसके अतिरिक्त 'तैत्तिरीय संहिता' में उल्लिखित कि[४] 'वाक् तत्त्व प्रारम्भ में अव्याकृत था, जिसे व्याकृत करने हेतु देवों ने इन्द्र से प्रार्थना की, कि इस 'वाक्तत्त्व' का हमारे लिए विवेचन करें। इन्द्र ने इसका विश्लेषण किया। इसी

१. वर्णज्ञान वाग्विषयो यत्र च ब्रह्मवर्तते। इत्यादि। महा० आ० १।

२. ऋग्वेद संहिता, म० १०, सू० १२५ सं० १ सं० ८।

३. साइंस ऑफ लैंग्वेज, भाग १, पृ० १।

४. तैत्तिरीय संहिता, ६.४.७।

कारण यह व्याकृतवाक् कहा जाता है। ऐतरेय आरण्यक में वाक् को सभी कामनाओं का सम्पादन करने वाला कहा गया है।[१] जो कि भाषा के अर्थ में ही प्रयुक्त हैं, क्योंकि भाषा-व्यवहार से ही सभी कामनाओं की सम्पन्नता सम्भव हैं। ऋग्वेद के 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि;[२] 'चत्वारि श्रृंगा:'[३] आदि मन्त्रों में जिस वाक्तत्त्व की ओर निर्देश हैं, उनका यास्काचार्य[४] व पतञ्जलि[५] ने 'नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च' रूप में व्याख्यान किया है। ये विभाग स्पष्टतया भाषा की लघुतम इकाई 'वाक्य' में ही सम्भव हैं। इसी प्रकार अर्थवेद के प्रथम मंत्र में 'त्रिप्तरूप' तथा 'वाचस्पति' पदों के द्वारा भाषासंबंधी निर्देश व्यांख्यापित हैं।

२. वाक् तथा भाषा

भारतीय मनीषियों की धारणा हैं कि वेदों में विद्यमान वाक् 'दैवीवाक्' हैं। यह मानव की उत्पत्ति से पूर्व देवों एवं ईश्वरीय विभूतियों से सम्पन्न ऋषियों द्वारा प्रकट हो चुकी थी। ऋग्वेद के 'वाक्सूक्त' में आठ मंत्र हैं। जिसके अनुसार यह 'वाक्' द्युलोक में विद्यमान रही हैं। इस सूक्त के मंत्रों के अनुसार यह वाक् अपने ब्रह्मरूप को घोषित करती हुई कहती हैं कि मैं सभी देवों के साथ विचरण करती हूँ और उन्हें आधार देती हूँ। मैं सोम, त्वष्टा, पूषा तथा भग आदि को धारण करती हुई समस्त भुवनों में विचरण करती हूँ।'' इस वाणी ने ही सम्पूर्ण जगत् की जल-धाराओं का निर्माण किया है, यह वह सहस्राक्षरा हैं जो मूलाधार अथवा परम-व्योम में रहती हैं, उसी से समुद्र प्रवाहित होता है तथा उसी से अक्षर का क्षरण होता है और उसी पर अधिष्ठित होकर 'विश्व' जीवित रहता है।[६]

महाभाष्यकार ने इस सूक्त के ४५वें मन्त्र को व्याकरण का प्रयोजन समझाते हुए उद्घृत किया है-

''चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेगंयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।''[७]

इसका सरलार्थ इस प्रकार हैं कि वाक् के परिमित चरण चार हैं उन्हें वे ब्रह्मवेता जानते हैं जो मनीषी होते हैं, उनमें से तीन चरण गुहा में स्थित होते हैं जो निष्चेष्ट रहते हैं। मंनुष्य तो केवल वाक् का चतुर्थ चरण बोलते हैं। इसी के आधार पर ऋषियों

---

१. ऐतरेय आरण्यक १.३.२।
२. ऋक् संहिता १.१६४.४५।
३. ऋक् संहिता ५८.१।
४. निरुक्त १३-९१।
५. महा० भा० १।
६. ऋग्वेद १/१६४/४१-४२।
७. ऋग्वेद १/१६४/४५, अथर्ववेद ९/१०/२७, महाभाष्य—खण्ड १, पृष्ठ ४२।

ने मानव के व्यवहार के लिए मानुषी भाषा का उपदेश किया है। अतएव 'काठक संहिता' में लिखा हैं कि "इस कारण ब्राह्मण दो प्रकार की वाक् बोलता है दैवी वाक् और मानुषी वाक्।[१] मिश्र तथा यूनान के प्राचीन ग्रंथों में विद्यमान तथ्यों से भी यही सिद्ध होता है कि अति प्राचीनकाल में वेदों की भाषा तथा मानवों की भाषा पृथक्-पृथक् थी। वैदिक सिद्धान्त के अनुसार 'दैवी वाक्' का तात्पर्य यह है कि यह देवों अर्थात् महाभूतों से स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हुई। जिस प्रकार आत्मा की प्रेरणा और मन के योग से तथा कण्ठ आदि के व्यापार से 'बैखरी वाक्' की उत्पत्ति होती हैं, उसी प्रकार महान् आत्मा की प्रेरणा, देवों के योग तथा शब्दतः यात्रारूपी वागीन्द्रियों से 'द्युः' और 'अन्तरिक्ष' आदि लोक में वाक् उत्पन्न हुई। प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में यही 'दैवी वाक्' स्थिर मौलिक नियमों के आधार पर प्रादुर्भूत होती हैं।

इस प्रकार दैवी वाक् 'मानुषी वाक्' से भिन्न हैं। मानुषी वाक् की रचना ऋषियों ने आदि-काल में वैदिक शब्दों के आधार पर मानवीय व्यवहार के लिए की। मनु महाराज ने भी यही प्रतिपादित किया है। 'आदि में ब्रह्मा ने वेद के शब्दों से सभी 'नाम' आदि पदभेदों का निर्माण किया।[२] परवर्ती ब्राह्मणग्रन्थों में भी वाक् तत्त्व की विविध प्रकार से व्याख्या प्राप्त होती है उसे कहीं मन से, कहीं प्राण से तथा कहीं बुद्धि के साथ जोड़ा जाता है, तो कहीं विराट्, इन्द्र, अग्नि, विश्वकर्मा, अन्तरिक्ष, पृथ्वी आदि विविध रूपों में चित्रित कर अन्तर्ब्रह्म के रूप में घोषित किया जाता है।

'ऐतरेय-ब्राह्मण' में वाणी को 'समुद्र' कहा गया है। ऋग्वेद ४/४८/१ की व्याख्या में कहा गया है- 'न वाक् क्षीण होती हैं और न समुद्र ही क्षीण होता है।'[३]

'ताण्ड्य ब्राह्मण' में वाक् को 'समुद्र' तथा 'मन' कहा गया है। यहाँ मन को वाक् से छोटा बताया गया है मनोव्यापार से पूर्व वाग्व्यापार की कल्पना है, जिसे आगे चलकर 'पश्यन्ती' कहा गया है। दूसरे स्थान पर मन को वाक् का देवता बताया गया है[४] और यह भी कहा गया है कि 'वाक्' 'मन' की कुल्यान (नहर) है। इस प्रकार वाक् को मन से लघुतर माना गया है और बताया गया है कि मन वाक् की अपेक्षा अपरिमित है जबकि वाक् मन की अपेक्षा परिमित है।[५] यह मध्यमावाक् का स्वरूप है जो बैखरी रूप लेने से पहले की स्थिति है क्योंकि 'बैखरी वाक्' के पहले मनुष्य मन द्वारा विषयमुखी गति लेता है और तब वाणी से बोलता है।[६] यदि मन का योग न हो तो 'वाक्' निर्विषय हो जाती है। अतः कहा गया है कि मन द्वारा वाक् पकड़ रखी

---

१. काठक संहिता, १४.५।
२. मनुस्मृति, १/२१।
३. ऐतरेय ब्राह्मण ५/१६।
४. जैमिनीय ब्राह्मण, उत्तर भाग, १/५९/१४।
५. शतपथ ब्राह्मण, १/४/४१७।
६. ताण्ड्य महाब्राह्मण. १/१/१३।

गई है।[1] इस प्रकार 'ब्राह्मण' ग्रन्थों में नाम न लेकर भी वाणी को चार भागों में विभक्त कर दिया गया है। 'ब्राह्मण-ग्रन्थों' के आधार पर अपर 'वाक् तत्त्व' का व्यष्टि-परक विवेचन सामने आया है। उसका समष्टिरूप अधिक महत्त्वपूर्ण है। समष्टिरूप में ही उसे सरस्वती कहा जाता है जिसके अनेक सन्दर्भ है।[2] उसे वेदों के अनेक वर्ण्य विषयों के रूप में बताया गया है। वहाँ ऋषिकाओं के रूप में उसका विवेचन मिलता है। यथा-'शतपथ ब्राह्मण' में उसे वाग्रूपा कहा गया है।[3] 'सर्पराज्ञी' ऋग्वेद की प्रसिद्ध ऋषिका है।[4] 'कौषतिकी ब्राह्मण' में उसे वाक् कहा गया है।[5] इस वाक् के तीन मन्त्र हैं जिन्हे वाक् के रूप में योजित किया जा सकता है।

यर्जुवेद ११/६१ में 'धिषणा' और १३/५८ में 'मति' का उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण में उनकी व्याख्या वाक् रूप में की गई हैं।[6] अर्थात् 'बुद्धि और 'मति' वाक् से अभिन्न हैं। इसी आधार पर भर्तृहरि ने कहा है-

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाहते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भाषते॥
वाग्रूपता चेत्तु भेदबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी॥[7]

अर्थात् लोक में ऐसा कोई ज्ञान नहीं होता जो शब्दानुगम के बिना हो सके। सम्पूर्ण ज्ञान शब्द से अनुस्यूत होकर भासित होता है। बोध की यह वाग्रूपता शाश्वत हैं। यदि यही निकल जाय तो स्वरूप-चैतन्य ही प्रकाशित नहीं हो सकता, क्योंकि वाक् से ही विषयाकार प्रत्यवमर्श (विमर्श) सम्भव होता है।

उपनिषदों में आकर वाक् की 'विद्या' के रूप में प्रतिष्ठा हुई तथा 'परा' और 'अपरा' नामक दो विद्यायें मान्य हुईं। अपराविद्या में चार वेद और छः वेदांग परिगणित किए गए। वेदांगों में शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त छन्द और ज्योतिष का परिगणन हुआ। परा विद्या से अक्षरतत्त्व (ब्रह्म) की उपलब्धि बताई गई हैं।[8] और उसे 'ब्रह्मरूप' कहा गया है।

---

१. शतपथ ब्राह्मण, ३/२/४/११
२. एतरेय ब्राह्मण, ३/१, २/२४, ६/७/, ३/२ कौपीतकी ब्रा०, ५/२, १२/८, ताण्ड्य ब्रा०, ६/७/७, तैत्तिरीय ब्रा०, १/३/४/५, ३/८/११/२, शतपथ ब्रा०, ७/५/१/३१, २/५/४/६
३. शतपथ ब्राह्मण, ६/५/१/२
४. ऋग्वेद, १०/१८८
५. कौषीतकी ब्रा०, २७/४
६. शतपथ ब्राह्मण, ६/५/४/५, ८/१/२/७।
७. वाक्यपदीय १/१२३-१२४।
८. मुण्डकोपनिषद्, १/१/४-५।

३. वाक् के भेद

(परा, पश्यन्ती, मध्यमा, बैखरी):—ऋग्वेद के 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' मन्त्र के आधार पर वाक् के परिमित चरण चार बताए गए हैं, उन्हें वे ब्रह्मवेता जानते हैं जो मनीषी होते हैं उनमें से तीन गुहा में स्थित होते हैं जो निष्चेष्ट रहते हैं। मनुष्य तो केवल वाक् का चतुर्थ रूप ही बोलता है। 'शतपथ-ब्राह्मण' में इसी मन्त्र की व्याख्या की गई हैं कि चतुर्थ रूप ही निरुक्त (व्यक्त) हैं जिसे मनुष्य बोलते हैं, तीन चरण अनिरुक्त हैं, जिन्हें क्रमशः पशु, पक्षी, और क्षुद्रकीट आदि बोलते हैं।[१]

निरुक्तकार ने उसकी अनेक प्रकार से व्याख्या की हैं ओर 'मैत्रायणी संहिता' १/११/५ से उदाहरण दिया है जिसके अनुसार उत्पन्न वाणी चार प्रकार से विभक्त हुई। इन लोकों में उसके तीन चरण हैं, पशुओं में उसका चौथा चरण हैं। जो वाक् पृथ्वी में हैं वही वाक् बची रही वह ब्राह्मणों में स्थित हुई। अतः ब्राह्मण देवों और मनुष्यों की वाणी बोलते हैं।[२]

निरुक्तकार ने व्याकरण का मत देते हुए वाणी के 'नाम', 'आख्यात', 'उपसर्ग' और 'निपात' ये चार प्रकार बताया हैं। यही धारणा महाभाष्यकार ने ऋचा की व्याख्या में दिया है। याज्ञिकों के मत में मन्त्र, कल्प, ब्राह्मण एवं व्यावहारिक वाणी ये चार वाक् के रूप हैं।

नैरुक्तों के मतानुसार वह वाक् ऋक्, यजुः, साम तथा व्यावहारिक (अथर्ववेद) के रूप में हैं। जबकि वैंयाकरणों के मत में वाक् नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात के रूप में हैं। परन्तु परवर्ती समय के साथ ही साथ 'चत्वारिवाक् परिमिता पदानि' का विवेचन परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी के रूप में किया जाने लगा। महाभाष्यकार ने इसकी व्याख्या 'नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च' के रूप में की हैं।[३] नागेश विरचित टीका में परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा बैखरी के रूप में वाक् के चार भेदों की चर्चा हैं जो कि सम्भवतः गुरु परम्परा में सुरक्षित रही होगी। इसका विवेचन महाभारत, शिक्षाग्रंथ, 'तंत्र ग्रंथ' तथा शैवागम में हुआ हैं। भर्तृहरि के वाक्यपदीय में भी इन भेदों पर विशद् विचार किया गया है। इस आधार पर सर्वप्रथम 'बैखरी वाक्' का वर्णन इस प्रकार हैं।

बैखरी वाक्—बैखरी वाक् के विषय में विद्वानों की धारणा हैं कि यह सभी अभिव्यक्त शब्दों का प्रतीक हैं। वह व्यापार रूप तथा कार्यरूप दोनों है तथा यही श्रोत्र का विषय होता है। यह अव्यक्त अथवा व्यक्त, साधु अथवा असाधु दोनों रूपों में देखी जाती हैं। उसे वीणा, वेणु, दुन्दुभि आदि के शब्दों में अपरिमित रूप से देख

---

१. ऋग्वेद संहिता १/१६४/४५।
२. निरुक्त १३/९
२. निरुक्त १३/९

सकते हैं। 'बैखरी' पद का अर्थ है 'बैखर'; अर्थात् शरीर तथा शरीर में होने वाली चेष्टाओं की संपादिका बैखरी कही जाती हैं। विद्वानों के अनुसार विशिष्ट 'ख' अर्थात् आकाश को मुख रूप में ग्रहण करने के कारण यह बैखरी कही जाती हैं।[१] अर्थात् यह नाम वर्णों के उच्चारण से सम्बन्धित हैं।

'तंत्रालोक' में लिखा है कि 'जो स्फुट वर्णों की उत्पत्ति में कारण हों तथा जिसका कार्य वाक्य हैं वह बैखरी हैं।'[२] महाभारत के अनुसार 'बैखरी वाक्' प्राण-वृत्ति-निबन्धना हैं अर्थात् प्राणों के आधार पर उसकी भित्ति निर्मित होती हैं।[३]

मध्यमा में क्रम रहता है जबकि पश्यन्ती में क्रम का उपसंहार हो जाता है, उसमें किसी प्रकार का विभाग नहीं होता। मध्यमा का उत्पादन बुद्धि हैं। दूसरी ओर 'परा वाक्' स्वप्रकाश तथा नित्य हैं, अमृत स्वरूप हैं। वाक् के स्थूल भेदों से सम्पृक्त होने पर भी उसमें कोई विकार नहीं होता।[४]

शैवागम में बैखरी का रूप क्रियाशक्ति से परिचालित माना गया है। बैखरी मध्यमा का बाह्य प्रसार है, 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' मन्त्र के भाष्य में सायणाचार्य ने लिखा है कि[५] 'इसे प्रकारान्तर से परा, पश्यन्ती, मध्यमा, बैखरी रूप में प्रतिपादित करते हैं।' एक ही नादात्मिका वाक् मूलाधार से उदित होकर 'परा' कही जाती हैं, तत्पश्चात् हृदयगामिनी 'पश्यन्ती' कही जाती हैं। वही वृद्धि को प्राप्त होकर विवक्षा प्राप्त होने पर तथा हृदय के मध्य में उदीयमान होने के कारण 'मध्यमा' कही जाती हैं। जब वही मुखविवर में स्थित तालु, ओष्ठादि अवयवों के व्यापार से बाहर निकलती हैं तब 'बैखरी' कही जाती है।

'मनीषी वाग्योगविद्' वाणी के चारों तत्त्वों को जानते हैं, उनमें तीन गुहा में (हृदय में) निहित होने के कारण 'चतुर्थ-वाक्' बैखरी को सभी मनुष्य बोलते हैं।

बैखरी के रूप में वाक् को प्राणों के साथ जोड़ा जाता है और उसे प्राणपत्नी कहा गया है।[६] वाक् और प्राण का मिथुनीभाव होता है,[७] यह बैखरी वाक् वायुरूप में होती हैं।[८] उच्चारण में प्राणों का उपयोग होता है जबकि श्रवण पर्यन्त उसकी गति वायु से होकर मानी गई है; अतः उसे वायु की पत्नी भी कहा गया है।[९] इस प्रकार वाक् का वैयक्तिक रूप स्वीकार किया जाता है।

---

१. अलंकार सर्वस्व, टीका पृ० २।
२. तंत्रालोक २२४।
३. महाभारत आश्व० पर्व अ० २१।
४. महाभारत आश्व० प०अ० २१।
५. सायणाचार्य भाष्य - ऋक् १/१६४/४५।
६. षड्विंश ब्राह्मण २/९।
७. शतपथ ब्राह्मण ३/२/४/११।
८. तैत्तिरीय ब्राह्मण १/८/८/१।
९. गोपथ ब्रा०, उत्तर भाग ४/१९ ऐतरेय ब्राह्मण ४/१।

'शतपथ ब्राह्मण' में वाक् के सम्बन्ध में एक कथा आती है जो बैखरी वाक् की विविधरूपता प्रकट करती हैं 'देवों ने यज्ञ से कहा वाक् स्त्री है, इसे बुलाओगे तो यह तुम्हें बुलाएगी। अतः यज्ञ ने इसे पुकारा तो वह इस प्रकार ईष्यायुक्त हो उठी जैसे सुई की नोंक चुभों दी गई हो। लोक में भी प्रथम बार पुरुष द्वारा बुलाई गई स्त्री उससे असूया करती है।' ''देवों ने यज्ञ से कहा कि तुम एक बार पुनः पुकारो। यज्ञ ने फिर पुकारा। इस बार वाक् ने होठ हिलाए जैसा कि स्त्री दुबारा पुकारने पर ओष्ठचालन करती हैं।''

''देवों ने फिर पुकारने को कहा। तिबारा वाक् ने यज्ञ को बुलाया। बुलाने पर देवों ने सोचा कि हो सकता है कि यज्ञ वहाँ जाय और उसका संयोजन न हो सके। अतः उसे अपने ही पास बुलाने को कहा। यज्ञ चौथी बार बुलाया गया और वह पास आ गया।''

''यज्ञ और वाक् के संयोग से इन्द्र (आत्मा) का जन्म हुआ।''[१]

यहाँ वाक् के चार रूप सामने आते हैं पहले में वह भावनामात्र हैं, दूसरे में इंगित रूप लेती हैं, तीसरे में व्यावहारिक वाणी बनती हैं, तथा चौथे में वह तंरगायित होकर श्रोता तक पहुँचती हैं। उसका जननीरूप तब उजागर होता है, जब उससे इन्द्र का जन्म होता है। यह वही इन्द्र हैं जिसके लिए ऋग्वेद में कहा गया है-

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।'[२]

अर्थात् इन्द्र अपने मनोभौतिक रूप में वाक् का विवर्त हैं। यह व्याख्या इन्द्र को जीवात्मा के रूप में स्वीकार करने से सार्थक प्रतीत होती है।

मध्यमा वाक्—मध्यमा 'आन्तरिक वाक्' है जिसमें क्रम न होते हुए भी क्रम जैसा दिखाई पड़ता है। उसका बुद्धिमात्र उपादान हैं। यह मानस वाक् हैं जिसमें पद और पदार्थ का भेद दिखाई देता है। दार्शनिकों ने इसे 'अन्तः सन्निवेशिनी' माना हैं। 'मध्यमा' में बुद्धिगत आकार के अवभास से क्रम तथा एक बुद्धि होने के कारण शब्द का बुद्धि से अभिन्न होने से 'अक्रम' दोनों रूप मानें जाते हैं तथा इसमें 'प्राण वृत्ति' का संचार माना जाता है। पुनरपि 'प्राण-वृत्ति' का अतिक्रमण करके शब्द के उपादान के रूप में केवल बुद्धिमात्र ही रह सकती हैं।

अर्थात् चिन्तन से जो कुछ द्योतित होता है उसे 'मध्यमा वाक्' का रूप दिया जा सकता है। अतएव वाक् की मध्यम अवस्था को व्यक्त करने के कारण ही इसे मध्यमा कहा जाता है।[३]

---

१. शतपथ ब्राह्मण २/१/५/११-२९।

२. ऋग्वेद ६/४७/१८।

३. वृषभ, वाक्यपदीय, १/१४३।

'मैत्रायणी संहिता' में 'सरमा' को वाक् से अभिन्न बताया गया है।[१]

ऋग्वेद के संवादसूक्त 'सरमापणि संवाद' में 'सरमा' एक बहुचर्चित पात्र हैं। उसके माध्यम से ही सारमेय जाति का चित्रण किया गया है।[२] इस सूक्त में निश्चय ही बैखरी वाक् तत्त्व को 'सरमा' नहीं कहा गया है। जिसे 'माध्यमिका वाक्' कहा जाता है उसे अधिक व्यापक होनी चाहिए। जिससे 'व्याकरण दर्शन' में 'स्फोट' की व्यंजना होती हैं तथा जो बैखरी का स्रोत हैं।

इस प्रकार ऋग्वेद में उर्वशी और पुरूरवा का संवादसूक्त अपनी काम-परायणता के लिए अति प्रसिद्ध हैं।[३] 'मैत्रायणी संहिता' में उर्वशी को वाक् और पुरूरवा को प्राण मानते हुए उसे मिथुन कहा गया हैं। यहाँ भी मध्यमावाक् का ही अर्थ अभीष्ट हैं।

निरुक्तकार ने ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों पर मध्यमावाक् की प्रतीकात्मकव्याख्या प्रस्तुत की हैं। एक मन्त्र का अंश यहाँ उद्धृत हैं 'तं माता रेढि स उ रेढि मातरम्॥[४] इसका अर्थ हैं कि माता (गाय) बछड़े को चाटती है और बछड़ा माता को चाटता है। यहाँ निरुक्तकार के अनुसार माता का अर्थ माध्यमिका वाक् हैं।[५]

स्पष्टतः यहाँ मनोदैहिक संरचना को परिव्याप्त करने के कारण आन्तरिक वाणी की क्रिया को ही माता द्वारा चाटने का रूपक बतलाया गया है।

इसी क्रम में ऋग्वेद का 'यम-यमी' संवाद भी अति प्रसिद्ध हैं।[६] जिसमें यमी अपने जुड़वाँ भाई यम से सम्भोगेच्छा व्यक्त करती हैं जिसे वह अमान्य कर देता है तथा अन्य उपयुक्त वर के वरण का उपदेश देता है।

निरुक्तकार ने यहाँ दो प्रकार की विचारधाराओं का उल्लेख किया है-पहली यह कि ऐतिहासिक लोग दोनों को स्त्री-पुरुष मान लेते हैं जबकि नैरुक्त-धारा में यम मध्यम (अन्तरिक्ष और हृदय) हैं ओर माध्यमिका वाक हैं।[७] यहाँ यह स्पष्ट है कि माध्यमिका वाक और हृदय या मन दोनों साथ-साथ रहते हैं, दोनों जुड़वा हैं। अतएव कहा गया है 'वाक च वै मनश्च देवानां मिथुनम्'।[८]

शैव दर्शन के अनुसार विमर्श नामक शक्ति जब अन्तःकरण को प्रेरित करती हैं तब वह शक्ति 'मध्यमा वाक' कही जाती हैं। चिन्तन-प्रधान होने के कारण यह

१. मैत्रायणी संहिता, ४/६/४।
२. ऋग्वेद सं० १/६२/३, १/७२/८, ३/११/६, ४/१६/८, ५/४५/७-८, १०/१०८ सरमापणि सम्वाद।
३. ऋग्वेद सं० १०/८५
४. ऋग्वेद सं० १०/११४/४
५. निरुक्त सं० १०/४/४६
६. ऋग्वेद सं० १०/१०
७. ऋग्वेद सं० १०/१०
८. ऐतरेय ब्राह्मण ५/२३

चिन्तन 'शब्द' से भी जाना जाता है, इसलिए मध्यमा वाक ज्ञान-शक्ति रूप भी मानी जाती हैं। यह ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति तथा क्रियाशक्ति के बीच की वस्तु हैं, अतः मध्य में होने के कारण ही मध्यशक्ति के प्रतीक वाक् को 'मध्यमा' कहा जाता है।[१]

पश्यन्ती वाक्—भर्तृहरि ने पश्यन्ती को 'प्रतिसंहृतक्रमा' कहा है। अर्थात् क्रम नाम की शक्ति का बुद्धि के साथ संयोग होता है। बुद्धि द्वारा अव्यक्त शब्दों में शब्दों के क्रम का अध्यारोप होता है। ये अध्यारोपित शब्दक्रम जब प्रवक्ता की मानसिक चेष्टाओं से परिचालित होते हैं उस समय उसका साक्षात्कार सा हो जाता है। यही सम्पूर्ण प्रतिसंहृत क्रम कहलाती है।

''मैत्रायणी संहिता' में 'सरमा' को वाक् से अभिन्न बताया गया है।[२] उसके माध्यम से सारमेय जाति का चित्रण किया गया है।[३] यह तथ्य ऋग्वेद में एक अन्य प्रकार से भी आया है वहाँ सूर्य की स्तुति में कहा गया है कि मन वाणी को धारण करता है, फिर गर्भ के भीतर गन्धर्व उससे बोलता है। वही जब द्योतित होती हैं तब कवियों के रक्षण में आती है यहाँ सूर्य या पतंग शब्द परमात्मा के लिए आया है।[४] सायण के अनुसार यदि इस मन्त्र की व्याकरण-दर्शन के अनुसार व्याख्या की जांच की जाय तो पतंग शब्द ब्रह्म हैं। उसके मन द्वारा धारण की हुई वाणी सायण के अनुसार प्रज्ञा हैं, अतः यह पश्यन्ती वाक् हैं। जिसमें शब्द और अर्थ अभिन्न होकर बोध का रूप लेते हैं।

शैवागम के अनुसार पश्यन्ती संहतक्रमा हैं। उसमें शब्द अन्तर्लीन से रहते हैं, जिसे 'सूक्ष्मा' भी कहते हैं।

यह परा से भिन्न तथा अपने नाम से ध्वनित होती हैं, इसमें चिन्तन की शक्ति हैं।[५] यह दृश्क्रिया के व्यापार के कारण सकर्मक विषयगर्भित हैं। देशकाल में संकुचित वस्तु परिपूर्ण नहीं हो सकती, अतः पश्यन्ती को परा का स्थान नहीं दिया जा सकता। पश्यन्ती में क्रमशक्ति अध्यारोपित होती हैं वास्तविक नहीं होती। इसमें शब्द और अर्थ का अभेद रहता है। यह निराकार होते हुए भी सभी पदों ओर पदार्थो के आकारों में लीन रहती हैं। वाक् की अन्य विकसित अवस्थाओं का मूल पश्यन्ती हैं। उनके रूपों का बीज भी इसमें हैं अतः वह 'चला' हैं क्योंकि वही शब्दात्मा की अभिव्यक्ति में गति प्रदान करती हैं। वह अचला हैं क्योंकि अपने स्वरूप में वह निष्पन्द हैं।[६]

---

१. संस्कृत व्याकरण दर्शन, पृ० ४६ से उद्धृत।
२. मैत्रायणी संहिता, ४/६/४
३. ऋग्वेद १/६२/३, १/७२/८, ३/११/६, ४/१६/८, ५/४५/७-८, १०/१०८ सरमासूक्त।
४. पतंगों वाचं मनसा विभर्ति तां गन्धर्वो वदद् गर्भे अन्तः।
तां द्योतमानां स्यमं मनीष— मृतस्य पदे कवयो निपान्ति॥ ऋग्वेद, १०/१७७/२
५. संस्कृत व्याकरण दर्शन, पृष्ठ ४७ से उद्धृत।
६. हरिवृत्ति, वाक्पदीय, १/१४३।

परा वाक्—भर्तृहरि ने 'परा' वाक् को 'तुरीय' शब्द से अभिहित किया है तथा अपने 'स्वोपज्ञ' नामक टीका में इसकी विस्तृत विवृत्ति की हैं, और ऋग्वेद १/१६४/४५ को उद्‌धृत किया है। नागेश जी ने उक्त ऋग्वेदीय भाष्योद्धरण पर इसी आधार के साथ विवेचन किया है।[१] इन्होंने परा वाक् का व्यष्टिपरक चिन्तन करते हुए इसे मूलाधार में स्थित बताया है। अर्थात् मूलाधार से चली हुई वायु नाभि तक आती हैं जहाँ पश्यन्ती का स्थान हैं। परा सूक्ष्मतम है जो निर्विकल्प समाधि का विषय है। इसका अधिदेवता ईश्वर हैं।

नागेश जी शैवमतानुयायी होने के कारण ईश्वर और ब्रह्म में अन्तर नहीं करते। वेदान्तपरक निर्णय के अनुसार परावाक् 'शब्द ब्रह्म रूपा' हैं। समष्टिरूप में इसे निम्नलिखित चक्र से समझा जा सकता हैं—
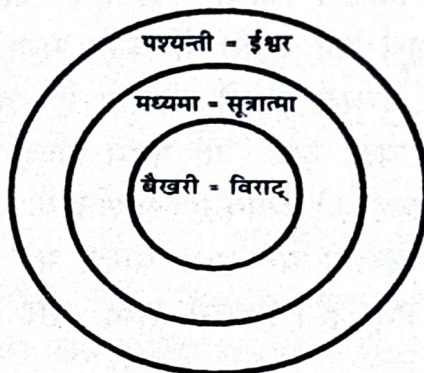
व्यष्टियों में नागेश जी ने तन्त्रिका चक्रों के अनुसार व्यवस्था दी हैं—

मूलाधार में परा, मणिपूर में पश्यन्ती और अनाहत में मध्यमा को व्यवस्थित किया है। बैखरी कण्ठ आदि भागों में स्थित मानी गई हैं। उसे इस प्रकार देखा जा सकता हैं-

इसमें सृष्टि प्रक्रिया का विवेचन नहीं हो पाता और न ही परा का वह तुरीय स्वरूप स्पष्ट हो पाता है जो समष्टि और व्यष्टि के समस्त प्रपञ्चों से अतिक्रान्त और सब से ओत-प्रोत 'वाग्ब्रह्म' हैं।
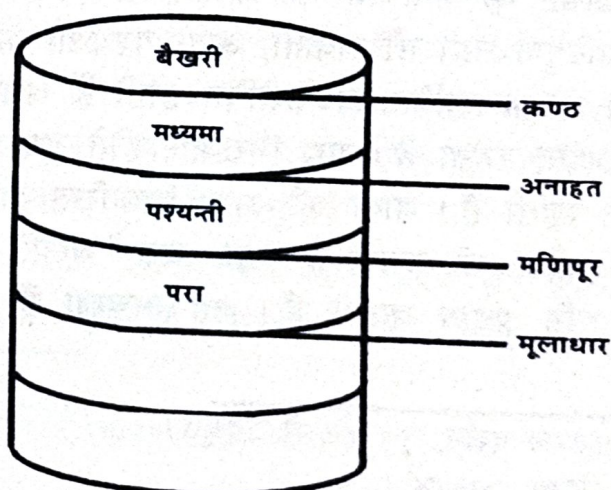
१. तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३/१२/८/१।

शैवागम के अनुसार परावाक् नित्य एवं महासत्ता हैं। आगमों में अनाहत शब्द से जिस महान् विश्वव्यापी शब्द-व्यापार का बोध होता है, वह तन्मयी परा वाक् हैं। अर्थात् शब्द के जितने भी अभिधेय हैं, चाहे वह ग्राह्य रूप में हो या वाचक रूप में, सभी परा के गर्भ में विद्यमान रहते हैं। तथा अक्रम रूप में रहते हैं जैसे-मयूर के अण्डे के रस में नील पीत आदि रंग जो बाद में अभिव्यक्त होते हैं छिपे रहते हैं। वैसे ही सभी वर्ण परा के गर्भ में अन्तर्लीन रहते हैं।[१] समग्र वाङ्मय 'शब्दनामय' हैं, यही विश्व है यह 'शब्दना' रूपात्मा विश्व यथाक्रम में 'परा' में अविकसित, पश्यन्ती में विकासोन्मुख, मध्यमा में विकसित होता हुआ बैखरी में पृथक्-पृथक् परामर्श के रूप में विकास को प्राप्त हो जाता है।[२]

इस प्रकार परा-सहित वाक्-तत्त्वों की मान्यता सुप्रतिष्ठित हैं। परन्तु भर्तृहरि के ऊपर कुछ विद्वानों का आक्षेप हैं कि इन्होंने वाक्-भेदों की चर्चा के प्रसंग में परा वाक् का उल्लेख नहीं किया है। तथा भर्तृहरि के "त्रय्याः वाचः परं पदम्"[३] इस वाक्य से भी स्पष्ट है कि वे वाक् के तीन भेद मानते हैं। इसी आधार पर कुछ विद्वानों को यह भ्रान्ति हो गई है कि व्याकरण-दर्शन में परा वाक् का कोई स्थान नहीं है।

नागेशभट्ट ने इसका समाधान देते हुए लिखा है[४] 'प्रकृति-प्रत्यय-विभाग प्रतीति' पश्यन्ती, मध्यमा तथा बैखरी में ही संभव हैं। पश्यन्ती लोक व्यवहार से परे हैं परन्तु योगियों को उसमें भी प्रकृति-प्रत्यय- का ज्ञान होता है परा वाक् में किसी को भी इस प्रकार का ज्ञान नहीं होता, यही कारण हैं कि भर्तृहरि ने वाक् के तीन ही भेद माने हैं, उन्होंने परवाक् का उल्लेख नहीं किया है। किन्तु नागेश का यह मत युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता; क्योंकि भर्तृहरि जब 'ब्रह्म' और उससे जगत् का विकास जैसा गम्भीर विषय प्रस्तुत कर सकते हैं तो परा वाक् का नाम लेने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। तथा 'परा' की सत्ता चाहे किसी भी रूप में मानते हुए वाक् को त्रयी कहना असंगत होगा। डॉ. त्रिपाठी का मत हैं कि "सम्भवतः भर्तृहरि ने परावाक् की पृथक सत्ता इसलिए नहीं मानी क्योंकि वे प्रतिभावाद के पोषक हैं वे वाक् के मूल में प्रतिभा को मानते हैं।[५] क्योंकि विश्व का विवर्त प्रतिभा को माना गया है, अतः प्रतिभा से विश्व का विकास मान लेने पर उन्हें 'परा वाक्' नाम की अन्य वस्तु के मानने की पृथक् आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

---

१. संस्कृत व्याकरण दर्शन, पृ० ४७ से उद्धृत।
२. संस्कृत व्याकरण दर्शन, पृष्ठ ४७ से उद्धृत।
३. वाक्यपदीयम् १.१४२
४. उद्योत, महा० आ० १ तथा मंजूषा पृ० १७, २, ७७।
५. वाक्यपदीय, १.१४ हरिवृत्ति।

वाक् के चार भेद मानने के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए श्री रामगोविन्द शुक्ल ने लिखा है कि[१] वाणी के तीन भेद हैं पश्यन्ती, मध्यमा तथा बैखरी; तथा इनके भी तीन-तीन भेद हैं-स्थूला, सूक्ष्मा और परा। इस प्रकार वाणी के नौ प्रकार हुए। पश्यन्ती ही सूक्ष्मतम अवस्था में परा वाक् भी कही जाती हैं। 'परा वाङ् मूले पश्यन्ती नाभिसंस्थिता। हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया बैखरी कण्ठदेशगा।' इस तंत्र-शास्त्र' के सिद्धान्त के अनुसार नागेश तथा शैव सिद्धान्त वादियों ने वाणी के चार भेद परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा बैखरी मान लिया जो वास्तव में व्याकरण-शास्त्र के विरूद्ध हैं, क्योंकि भर्तृहरि ने वाक्यपदीयम् १.१४३ कारिका में तथ्या, वाचः "परम् पदम् कहकर वाणी के तीन ही भेद स्वीकार किए हैं। जिन लोगों ने 'चत्वारि वाक्' मन्त्र की महाभाष्यस्थ नागेश की टीका के आधार पर वाणी के चार भेदों की कल्पना का समर्थन किया है, उन्हें इसी मन्त्र का प्रदीप भी देख लेना चाहिए जहाँ कैयट ने लिखा हैं[२] 'चतुर्णां' (नामाख्यातोपसर्गनिपातानाम्)''पदजातानामेकैकस्य चतुर्थं भागं मनुष्या अवैयाकरणाः वदन्ति।'' यद्यपि 'चतुर्णाम्' पद की व्याख्या कैयट ने 'नामाख्यातोपसर्गनिपातानाम्' इस मन्त्र की व्याख्या में नहीं लिखा हैं, तथापि चत्वारि की व्याख्या में महाभाष्यकार ने स्वयं कण्ठतः नामाख्यातादि की गणना की हैं। इस प्रकार नागेश का वाणी के चार भेद मानने का सिद्धान्त व्याकरण सिद्धान्त के सर्वथा विरूद्ध हैं।

इसके समाधान हेतु डॉ. सत्यकाम वर्मा ने परा को भर्तृहरि द्वारा मान्य प्रतिपादित करते हुए कहा हैं कि 'जब वक्ता बोलना चाहता है या भाषण-प्रक्रिया में लगना चाहता है, उस समय उसके मन में अनेक शब्द आते हैं, जिनमें से वह कुछ ही शब्दों को आवश्यकतानुसार प्रयोग करता है।' अर्थात् उनमें से कुछ ही शब्द पशयन्ती में स्पष्ट रूप ग्रहण कर पाते हैं जिसे वागात्मा की संज्ञा दी गयी हैं जो शरीरशास्त्र की दृष्टि से चेतना-स्थान या चेतनाकेन्द्र (हृदय-गुहा) कहा जा सकता है। इच्छा की इस अवस्था को अन्य सभी ने 'परा' पर 'सैषा' या 'सूक्ष्मा' पाठ मिलता है। यह आन्तरिक स्वरूप ज्योति हैं, जब कोई उसे पा लेता हैं तब बैखरी आदिका अधिकार या क्षेत्र हट जाता है। अतः इससे स्पष्ट है कि उच्चारण-प्रक्रिया में परा का ग्रहण भी भर्तृहरि को अभीष्ट हैं, वाक् के तीन भेदों के उल्लेख मात्र से यह नहीं समझना चाहिए कि वे 'परा' के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते किन्तु व्याकरण के क्षेत्र में अवश्य 'परा' को वे नहीं मानते।[३] वाक्यपदीय की 'अम्बाकर्त्री' टीका के कर्त्ता पं० रघुनाथ शर्मा ने 'चर्वारि वाक्' मन्त्र को उद्धृत करके इसकी व्याख्या में चत्वारि का अर्थ परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी लिखा हैं।[४] प्राचीन वैयाकरणों के अलावा

१. वाक्पदीय ब्रह्मकाण्ड की हिन्दी व्याख्या की भूमिका से उद्धृत।
२. प्रदीप, महाभाष्य आ० १।
३. भाषा तत्त्व और वाक्पदीय, पृष्ठ ४५।
४. अम्बाकर्त्री टीका, वा०प०, १.१.४२ पृ० २१६।

स्वयं पाणिनि ने नामोल्लेख के बिना वाक् की चार स्थितियाँ मात्र निर्दिष्ट की हैं।[१] पतञ्जलि ने 'नाम' की स्थिरता न होने के कारण ही महाभाष्य में पदजातानि कहकर भी 'नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च' की ही चर्चा की हैं।[२]

यही भावना वेद में ''गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति'' तुरीयं वाचों मनुष्याः वदन्ति'' के द्वारा भिन्न प्रकार से स्पष्ट की गई हैं।[३] यहाँ पर तुरीय वाक् अर्थात् बैखरी को उच्चारण का क्षेत्र बताया गया है। 'गुहात्रीणिनिहिता' का तात्पर्य, पश्यन्ती, मध्यमा तथा परा वाक् ही हैं। यहाँ पतञ्जलि ने वाणी के चारों चरणों का परोक्ष रूप से उल्लेख नहीं किया है। किन्तु इन्होंने 'नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च' कहकर 'चत्वारि' पद की व्याख्या की हैं। अतएव 'निपाताश्च' में प्रयुक्त 'च' की व्याख्या करते हुए नागेश ने ठीक लिखा है कि पदजातानि का स्वभाविक अर्थ परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा बैखरी होना चाहिए।[४] इसके अतिरिक्त पतञ्जलि ने 'चत्वारि वाक्' तथा 'चत्वारि श्रृंगाः' मन्त्रों में उपात्त वाणी के चार पदों की तथा वृषभ के चार सींगों को 'नामाख्यातोपसर्गनिपात' बताया है, इन्होंने शब्दतत्त्व, वाक्तत्त्व का आत्मतत्त्व से अभेद स्वीकार किया है।

वहीं दूसरी ओर भर्तृहरि के अनुसार शब्द सर्वप्रथम बुद्धि द्वारा अर्थ को निश्चित करके ही बुद्धि द्वारा प्रयोग किया जाता है। अतः शब्द का वास्तविक जन्म बुद्धि की अवस्था में ही हो जाता है। मध्यमा और बैखरी उसे भौतिक रूप से प्रकट करने के लिए केवल सहयोग प्रदान करती हैं। अतः श्रुत भाषा के रूप में बैखरी को ही व्याकरण का विषय कहा जाता है, जहाँ वक्ता की दृष्टि से प्रकृति एवं प्रत्यय का विभाजन या चिन्तन पश्यन्ती की प्रक्रिया में ही हो जाता है। अतः भर्तृहरि द्वारा वाक् के तीन भेदों को बताने का कारण परा की अस्वीकृति नहीं हैं, अपितु व्याकरण के क्षेत्र से बाहर होने के कारण ही वे यहाँ परा का नामतः उल्लेख करना उपयुक्त नहीं मानते हैं। इसके अतिरिक्त वाणी के चार चरणों की अभिव्यक्ति का संकेत ऋग्वेद के सूक्त (१०.७१) में भी वाक् की उत्पत्ति के प्रसंग में आया है।[५] जिसका उल्लेख वाक् के भेद के प्रसंग में किया जा चुका हैं। प्रथम चार मन्त्रों में वाणी के आविर्भाव को चार क्रमों में विभक्त किया गया है। इस सूक्त में शब्द को मन्थन क्रिया के द्वारा अभिव्यक्त माना गया है। मन्थन-क्रिया का अन्तिम परिणाम 'वाक्' हैं। इस वाक् की द्वितीय चरण ''यत्र धीराः मनसा वाचमक्रत है''[६] इच्छा के पश्चात् द्वितीय चरण आता

१. पाणिनीय शिक्षा ६। वही, ७।
२. महाभाष्य आ० १।
३. ऋग्वेद १/१६४/४५
४. उद्योत, महा० आ० १।
५. ऋग्वेद, १०.७१.२।
६. ऋग्वेद, १०.७१.२।

है चिन्तन का। इच्छा आत्मा का विषय हैं। तथा चिन्तन मन का, तथा मन में ही शब्दों के चयन की प्रक्रिया भी प्रारम्भ होती हैं। तृतीय चरण में इन्द्रियों का विषय आता है, जहाँ पर वाक् मध्यमा के रूप में अपना स्वरात्मक रूप ग्रहण करके उसे उच्चारणावयवों से बैखरी के रूप में प्रकट कर देती हैं।[१] सायणाचार्य ने भी वाक् के चार भेदों का उल्लेख करते हुए 'अथर्ववेद भाष्य' में आगम के श्लोकों को दर्शाया है। जिसके अनुसार व्यक्ति जब किसी अर्थ को अभिव्यक्त करने हेतु शब्द का प्रयोग करना चाहता है, तब उस समय प्रयत्न से मूलाधार में प्राणवायु का परिस्पन्दन होता है। इस परिस्पन्दन से मूलाधार में सूक्ष्म परा वाक् प्रकट होती हैं जो समस्त शब्द समुदाय का कारण हैं, और स्वयं निष्पन्द भी हैं।

अतः वाक् के चार भेदों का क्रम इस प्रकार हैं—परा जाक् मूलाधार से नाभि देश में आकर पश्यन्ती कही जाती हैं; वही हृदय-देश में पहुँचकर मध्यमा कहलाती हैं। उसमें अर्थ-विशेष की भावना व्यक्त हो गई रहती हैं। अन्तिम अवस्था में वह वर्णरूप में कण्ठ तालु आदि उच्चारण-अवयवों से अभिव्यक्त होती हुई बैखरी कहलाती हैं। सायणाचार्य द्वारा उद्धृत आगम पुराण से यह प्रतिपादित होता है कि परा वाक् सहित वाणी के चार भेद मानना ही समीचीन एवं परम्परानुमोदित है।

४. महाभाष्य में व्यक्त वाक् सम्बन्धी मान्यतायें

भाषा शब्द 'भाष् व्यक्तायां वाचि'[२] धातु से निष्पन्न है। जिसका अर्थ हैं व्यक्त करना अर्थात् बोला जाना। अतः भाषा मनुष्यों की उस चेष्टा अथवा व्यापार को कहते हैं जिससे मनुष्य अपने उच्चारणोंपयोगी शरीरावयवों द्वारा उच्चारण किए गये वर्णात्मक शब्दों द्वारा अपने विचार दूसरों पर प्रकट करता है। पतञ्जलि ने इस व्यक्त वाक् का आशय स्पष्ट करते हुए लिखा है वाणी में अकारादि वर्ण अभिव्यक्त होते है वहीं 'व्यक्त वाक्' हैं[३] और यह वाक् ही भाषा हैं।

भारतीय वाङ्मय में 'भाषा' तथा 'वाक्' दोनों ही शब्दों का प्रयोग जनसाधारण में प्रचलित एवं व्यवहृत हैं, जो कि देश, काल वक्ता आदि के आधार पर भिन्न-भिन्न रूपों में दिखलाई पड़ता है, तथा उसका स्वतंत्र विकास भी होता है। इसे वाणी की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है। संसार की समस्त भाषायें इसी वाणी के माध्यम से ही अभिव्यक्त होती हैं। जिसके आधार पर वाक् का समुचित अर्थ हुआ भाषण का माध्यम। इसके अतिरिक्त कभी-कभी मनुष्य अपने भाव दूसरों पर अभिव्यक्त करने हेतु हाथ, आँख, मुखाकृति आदि संकेतों का भी प्रयोग करता है।[४] किन्तु इन्हें भाषा के अन्तर्गत

१. ऋग्वेद १०.७१.३।
२. पाणिनीय धातु पाठ।
२. महाभाष्य १.३.४८।
४. महाभाष्य २.१.१।

नहीं माना जाता। अर्थात् भाषा मनुष्य की कल्पना का फल नहीं अपितु समाज के अनुमोदन और व्यंवहार का फल हैं। अतः भाषा में प्रयुक्त शब्द और उसका अर्थ लोक-व्यवहार एवं परम्परा द्वारा निर्धारित एवं संकेतित होते हैं, वही रूप भाषा में प्रयुक्त हैं। व्याकरण केवल व्यवस्था अथवा नियमन मात्र करता है शब्द और अर्थ में सम्बन्ध का निर्धारण नहीं करता।[१] वह सम्बन्ध तो परम्परा से स्वाभाविक रूप में स्वीकृत है।

महाभाष्यकार ने व्याकरण के स्वरूप तथा उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि 'अक्षरतत्त्व एवं वर्णतत्त्व का यथार्थ ज्ञान ही व्याकरण है। इसी में ब्रह्म का निवास हैं, तथा यही तारामण्डल के समान सर्वत्र सुशोभित हो रहा हैं।' ''वर्णज्ञानं वाग्विषयों यत्र च ब्रह्मवर्तते'' इसमें पतञ्जलि ने 'वाक्' पद का प्रयोग केवल 'वाक् तत्त्व' या 'वाणी' के लिए किया है।[२] किन्तु 'वाक्' शब्द 'भाषा' के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है।

'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' में जो पदविभाग वर्णित हैं उसका अर्थ पतञ्जलि ने 'नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च' के रूप में किया हैं।[३] जिससे स्पष्ट होता है कि ये पदविभाग भाषा के ही हो सकते हैं। इस प्रकार के अन्य प्रयोग भी मिलते हैं जिससे इस बात की पुष्टि होती हैं। जैसे व्याकरण के प्रयोजन के प्रसंग में 'यो वा इमाम्' की व्याख्या करते हुए पतञ्जलि ने लिखा है जो इस वाक् के पद, स्वर एवं अक्षर का शुद्ध उच्चारण करता है वही ज्ञानी होता है।[४] इसी प्रकार 'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्' में भी 'वाक्' शब्द का अभिप्राय भाषा के अर्थ में ही ग्रहण किया गया है।[५] परन्तु ऋग्वेद के मन्त्र संख्या १०.७१.२ में वाक् का प्रयोग भाषा और वाणी दोनों ही अर्थों में हुआ है।[६] यथा 'यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत' में प्रयुक्त वाचम् पद 'वाणी' अर्थ में है तथा ''भद्रैषां लक्ष्मीः निहिताधिवाचि'' में वाचि पद भाषा के अर्थ में हैं।

इन सभी विवेचनों से स्पष्ट है कि वाक् शब्द का प्रयोग अनेकत्र उलझा हुआ प्रतीत होता है। प्रायः भाषा शब्द का प्रयोग केवल परिनिष्ठित संस्कृत भाषा के लिए ही हुआ हैं। पतञ्जलि ने स्पष्टतः लैकिक एवं वैदिक भाषा का भेद स्वीकार किया है।[७] पाणिनि ने वैदिक भाषा के 'छन्दस्' आदि शब्दों का[८] तथा यास्काचार्य ने वैदिक

---

१. (क) लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः। महा० आ० १।
(ख) सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे। महा० आ० १।
२. महाभाष्य आ० १।
३. महाभाष्य आ० १।
४. महा० आ० १।
५. महा० आ० १।
६. ऋग्वेद १०.७/२।
७. केषां शब्दानाम्? लौकिकानां वेदिकानाञ्च। महा० आ० १।
८. बहुलं छन्दसि, अष्टाध्यायी, २.४.३९ तथा वाषपूर्वस्यनिगमे अष्टा० ६.४.९

भाषा के लिए 'अन्वाध्याय' और लौकिक संस्कृत के लिए 'भाषा' शब्द का प्रयोग किया है।[१]

पतञ्जलि ने महाभाष्य के प्रथम आह्निक में लौकिक शब्दों के जो उदाहरण दिए हैं; वे लोक में प्रयुक्त गौः, अश्वः, पुरुषः हस्ती, शकुनिः मृगः, ब्राह्मणः आदि लौकिक संस्कृत भाषा में प्रयुक्त होने वाले ही शब्द हैं। इसके अतिरिक्त "शन्नो देवीरभीष्टये, इषे त्वोर्जे त्वा।" इत्यादि जो मंत्रों के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं वे वैदिक भाषा में व्यवहृत होने वाले शब्द हैं।[२] महाभाष्य में प्रयुक्त 'एकः शब्द सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति' में उन्होंने 'शब्द' पद से भाषा में प्रयुक्त लौकिक व्यावहारिक शब्दों का ही निर्देश किया है।[३] इन्हीं का अनुसरण करते हुए भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में वाणी व भाषा के अर्थ में 'शब्द' पद का प्रयोग किया है। भर्तृहरि ने अपने 'त्रिपदी' नामक टीका में 'शब्द' पद की व्याख्या करते हुए लिखा है 'जो लौकिक शब्द हैं वे ही उस शब्द के द्वारा ग्रहण किए जाते हैं।[४] अतः स्पष्ट है कि लौकिक या लोक में प्रयुक्त शब्द भाषा का ही अवयव हैं।

अतः कहा जा सकता है कि 'शब्द' पद से वाणी एवं भाषा दोनों ही अर्थ पतञ्जलि एवं भर्तृहरि को स्वीकार्य हैं। भाषा में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द का अर्थ होता है वह अर्थ ही उच्चारण के अभिन्न होने पर भी शब्दों में भेद का मुख्य कारण होता है। वाक्य में वह जिस स्थिति में प्रयुक्त होता है उस स्थिति के अनुसार ही जाना जा सकता है कि अमुक शब्द किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[५] भाषा में शब्द को मुख्य मानकर ही भाषा की परम इकाई वाक्य को ही माना गया है। सभी विचारक वाक्य पर ही विचार करते हैं। किसी तात्पर्य को स्पष्ट करने हेतु वाक्य का ही प्रयोग करते हैं। वाक्य में तात्पर्यार्थ होता है, पृथक्-पृथक् शब्दों में नहीं। शब्दों का वाक्यों के साथ उसी प्रकार का सम्बन्ध होता है जिस प्रकार का सम्बन्ध अक्षरों और वर्णों का पदों के साथ होता है। अतः जिस प्रकार शब्दों में वर्ण-विभाग काल्पनिक हैं उसी प्रकार वाक्य में पद-विभाग की काल्पनिक हैं।[६] अतः पतञ्जलि ने 'सर्वसर्व-पदादेशाः दाक्षी पुत्रस्य पाणिनेः' कहकर वाक्य की नित्यता का प्रतिपादन किया है।[७]

●●●

---

१. निरुक्त १.२.१।
२. महाभाष्य ६.१.८४।
३. महाभाष्य आ० १।
४. त्रिपदी, आ० १।
५. (क) महाभाष्य १.२.६४।
   (ख) मंजूषा, शक्तिनिरूपण।
६. वाक्पदीय, २.१३।
७. महाभाष्य, ७.१.२७।

षष्ठ अध्याय

महाभाष्य का 'शब्द'-सम्बन्धी दार्शनिक मान्यतायें

न्याय-वैशेषिकमत

शब्द-स्वरूप विषयक विवेचन भारतीय दर्शनों में अपनी-अपनी दार्शनिक प्रक्रिया के अनुसार विभिन्न प्रकार से हुआ हैं। न्याय-वैशेषिक दर्शन के मतानुयायी वात्स्यायन ने शब्द के दो भेद माने हैं—१-ध्वन्यात्मक, २-वर्णात्मक।[१]

वर्णात्मक शब्द के उच्चारण को लक्षित करते हुए वात्स्यायन ने यह प्रतिपादित हैं कि प्रयत्न से प्रेरित प्राण-वायु का उच्चारण-स्थान के साथ अभिघात-रूप संयोग होने पर वर्णात्मक शब्द की उत्पत्ति होती हैं।[२] आचार्य प्रशस्तपाद ने भी वात्स्यायन के मत का ही अनुसरण किया है। जबकि कणाद के अनुसार ध्वनिमात्र और वर्ण ये दोनों ही संयोग अथवा विभाग द्वारा उत्पन्न होते हैं। तत्पश्चात् उसी से शब्दरूपी सन्तान का जन्म होता है। शब्दजवाद की यह प्रक्रिया अपने पूर्ण विकसित रूप में वैशेषिक सम्प्रदाय में सर्वप्रथम प्रशस्तपाद द्वारा निर्दिष्ट होती है।[३]

न्यायदर्शन में यह मत हमें उद्योतकार के न्यायवार्तिक तथा वाचस्पतिमिश्र के तात्पर्य टीका नामक ग्रन्थों में प्राप्त होता है।[४] न्यायवैशेषिक मतानुसार-शब्द वह हैं जिसका श्रोत द्वारा ग्रहण हो।[५] श्रोत्र द्वारा गृहीत वर्ण ही शब्द की कोटि में आते हैं। इस मत के अनुसार 'शब्द' कण्ठ, तालु आदि अवयवों द्वारा प्राण-वायु से प्रेरित होकर उत्पन्न होता है। वक्ता द्वारा उच्चरित ये वर्ण ही शब्द-सन्तान परम्परा से श्रोत्र प्रत्यासन्न होने पर श्रोत्र द्वारा ग्रहण किए जाते हैं। इन्हीं में से कई वर्णों के समूह को 'पद' और पदों के समूह को 'वाक्य' कहा जाता है।[६]

ये वर्ण ही समस्त भाषा रूप शब्द की मूलभूत इकाई हैं। नैयायिक 'जयन्तभट्ट' ने शब्द के इसी व्यवहार को स्वीकार करते हुए लिखा है ''क्योंकि इन गकार आदि वर्णों

---

१. न्याय भाष्य २.२.४०।
२. न्याय भाष्य २.२.१८।
३. 'पदार्थ धर्म संग्रह' शब्द निरूपण, पृष्ठ ६४५।
४. न्याय वार्तिक, पृष्ठ ६४५।
५. वैशेषिक दर्शन्, सू० २.२.२१।
६. तात्पर्य टीका, न्याय दर्शन, पृ० ३८६।

का ग्रहण होने पर ही अर्थ बोध होता है तथा इनका ग्रहण न होने पर अर्थ बोध नहीं होता अतः इस अन्वय-व्यतिरेक से अर्थ के साथ इन्हीं का सम्बन्ध विनिश्चित होता है।[१] इनसे भिन्न ये स्फोट रूप को शब्द नहीं मानते। इनके अनुसार स्फोट न तो 'प्रत्यक्ष प्रमाण' द्वारा जाना जाता है और न ही 'अनुमान प्रमाण' द्वारा। 'प्रत्यक्ष प्रमाण' द्वारा वर्णात्मक ध्वनियों की उपलब्धि होती हैं, अतः शब्द मूलतः वर्णात्मक हैं। इन्होंने पद या वाक्य की स्वतंत्र सत्ता का खण्डन किया है। 'गौतम' के अनुसार 'विभक्ति प्रत्यय' अन्त में प्रयुक्त होने पर वर्ण-समूह ही पद कहा जाता है।[२] अर्थात् शब्द चाहे ध्वन्यात्मक हो अथवा वर्णात्मक दोनों ही प्रकार के शब्द न्याय तथा वैशेषिक के मतानुसार अनित्य हैं।

अतः इस मतानुसार शब्द की अपूर्व उत्पत्ति होती है, न कि पूर्व विद्यमान शब्द की अभिव्यक्ति होती है। संयोग और विभाग शब्द के अभिव्यंजक नहीं अपितु उत्पादक कारण हैं। संयोग और विभाग से जो शब्द उत्पन्न होता है वह वर्ण-ध्वनि रूप हैं और जो कारण सामग्री से उत्पन्न होता है, वह अनित्य हैं।

योग दर्शन का मत

योगदर्शन के भोजवृत्ति; व्यासभाष्य एवं योगवार्तिककार ने वैयाकरण सम्मत शब्दस्वरूप (स्फोटवाद) का प्रतिपादन किया है।[३] दर्शनकार इस मत पर सहमत हैं कि भाषा वैज्ञानिक तथा वैयाकरण न तो ताल्वादि के अभिघात से उत्पन्न ध्वनि को शब्द मानते हैं। और न मीमांसकों के समान ध्वनि से व्यंग्य वर्णात्मक शब्द के सिद्धान्त से ही सहमत हैं। वैयाकरणों के मत में अर्थ का बोधक भाषा-शब्द, क्रमभावी वर्णों से अतिरिक्त एक निष्क्रम और निर्भाग सत्ता हैं। परन्तु स्वतः क्रम और विभाग से रहित होते हुए भी क्रमवान् ध्वनियों से अभिव्यक्त होने के कारण क्रमवान् और भागयुक्त के समान प्रतीत होता है। उसके ये ध्वनिकृत विभाग औपाधिक है, वास्तविक नहीं।

पूर्वोक्त सभी आचार्यों ने वाच्य अर्थ को शब्द का स्वरूप निर्धारित करने की प्रक्रिया में अनावश्यक समझकर केवल श्रोत्रग्राह्यता के आधार को स्वीकार किया है।[४] उनके शब्द-विवेचन में भाषा के सार्थक शब्द ही नहीं अपितु वर्ण एवं ध्वनिमात्र निरर्थक शब्द भी आते हैं। दोनों ही प्रकारों से अभिव्यक्ति के लिए जब एक बार शब्द की श्रोत्रग्राह्यता मान ली गई, तब अर्थ की प्रतीति के आधार पर शब्द का स्वरूप विवेचन स्पष्टतः दोषावह हो गया था, इनकी दृष्टि में अर्थ के साथ सम्बन्ध वर्ण का नहीं अपितु वर्ण-समूहरूप पद या पदसमूह रूप वाक्य का होता है। इस दशा में अर्थहीन वर्ण में शब्दलक्षण की अव्याप्ति होती है। कुमारिल[५] तथा जयन्तभट्ट[६] ने अर्थ की प्रतीति के आधार पर किए गए शब्द के लक्षण की आलोचना की हैं।

१. न्याय मंजरी, पृष्ठ ३३७।
२. न्याय दर्शन सू० २.२.५८।
३. योगदर्शन, सू० ३.१७।
४. (क) वैशेषिक दर्शन, सू० २.२.२१।
   (ख) शबर भाष्य, १.१.५।
५. श्लोक वार्तिक स्फोटवाद, का० ३-८।
६. न्याय मंजरी, भाग १, पृ० ३५१।

पूर्व मीमांसकों का मत

मीमांसक शब्द की अभिव्यक्ति तो मानते हैं, परन्तु वे शब्द को नित्य मानते हैं। वर्णरूप शब्द 'ध्वनि' द्वारा व्यक्त होता है और वह नित्य हैं। शब्द का आविर्भाव और तिरोभाव मात्र होने से उनकी दृष्टि में शब्द नित्य हैं। सांख्य और मीमांसक दोनों ही शब्द की अभिव्यक्ति मानते हैं, परन्तु एक की दृष्टि में वह अभिव्यक्त होकर भी अनित्य है तो दूसरे की दृष्टि में वह अभिव्यक्त होने से ही नित्य है। मीमांसक शब्द के दो रूप मानते हैं 'व्यंजक ध्वनि' तथा 'व्यंग्यवर्ण'। इसके विपरीत सांख्यमत में न्याय-वैशेषिक के समान शब्द का एक ही रूप है। कारणावस्था में वही अव्यक्त रहता है जो कार्यावस्था में व्यक्त हो जाता है। सांख्य की कार्यदशा तथा अव्यक्तदशा एक ही वस्तु के दो नाम हैं। उसके लिए व्यक्त ही कार्य हैं। जबकि मीमांसकों के मत में कार्यता 'ध्वनि' की होती है, और अभिव्यक्ति तदतिरिक्त वर्ण की स्वीकार की गई है।

शब्द-विषयक मान्यता दोनों में समान हैं। दोनों प्रकार के प्रामाणिक आचार्यों ने वर्ण को ही शब्द का वास्तविक स्वरूप माना हैं। इनकी दृष्टि में वर्ण ही शब्द की मूलभूत इकाई हैं। पूर्वमीमांसा-सूत्रों के भाष्यकार ने 'गौः' शब्द स्वरूप को लेकर आचार्य उपवर्ष के सिद्धान्त का उल्लेख किया है।[१] आचार्य उपवर्ष का मत हैं कि 'गौः' इस शब्द का स्वरूप गकार, औकार और विसर्ग है। इन वर्णों के अतिरिक्त गौः और कुछ नहीं है। केवल वर्ण ही शब्द हैं। पूर्व मीमांसकों का यह वर्णात्मक शब्द नित्य है और उच्चरित होनेवाले प्रध्वंसी अनित्य ध्वनियों से व्यक्त होते हैं।

सांख्य दर्शन का मत

सांख्य दर्शन के आचार्य मीमांसक के समान ही शब्द की अभिव्यक्ति को मानते हैं। सांख्य का शब्द ध्वनिरूप हैं, और अभिव्यक्त होकर भी कार्य है, अतः अनित्य हैं। सांख्य 'षडध्यायी' के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सांख्य-शास्त्र में भाषागत शब्द को वर्णध्वनि रूप माना गया है, और साथ ही उसे अनित्य भी स्वीकार किया गया है। वहीं पर इसमें वर्णातिरिक्त स्फोटात्मक शब्द की सत्ता का प्रतिषेध स्पष्ट रूपेण किया गया है। अतः वाचक शब्द के विषय में सांख्य का मत भी न्याय तथा वैशेषिकों के समान ही हैं। सांख्य दर्शन सत्कार्यवादी होने के कारण कार्य की उत्पत्ति प्रथम न मानकर कारण से उसकी अभिव्यक्तिमात्र मानते हैं। सत्कार्यवाद सिद्धान्त के अनुसार कार्य अपनी उत्पत्ति से पहले सत् रहता है। वस्तु का आविर्भाव और तिरोभाव होता है, 'अपूर्व उत्पाद' और 'सर्वथा ध्वंश' नहीं होता। शब्द भी इसी प्रकार का होता है, शब्द की अभिव्यक्ति ही होती हैं। मीमांसकों के समान सांख्यों के मत में भी शब्द नित्य हैं। किन्तु सत्कार्यवाद में शब्द की नित्यता का खण्डन किया गया है। क्योंकि इसमें कार्य के

---

१. शाबर भाष्य, मीमांसा दर्शन सू० १.१.५।

विनाश को स्वीकार किया गया है। सांख्य में कार्य के विनाश की धारणा वैसी नहीं है जैसी कि न्याय वैशेषिक में है। सांख्य में कार्य का कारण में लीन हो जाना ही उसका विनाश हैं, जबकि असत्कार्यवादी न्याय-वैशेषिक कार्य के सर्वथा अभाव हो जाने पर उसका विनाश कहते हैं। अतः कार्य के विनाश की धारणा दोनों दर्शनों में भिन्न-भिन्न हैं। कार्य के नाश के विषय में दोनों एकमत हैं। सांख्य उपलभ्यमान शब्द की कार्यता स्वीकार करता है। अतः उसे नित्य नहीं मानता। सांख्य के अनुसार सत्व, रजस् तमस् तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति हैं। इसका प्रथम विकार महत्तत्त्व है, जो कि बुद्धि है। महत् का विकार अहंकार हैं। इस अहंकार से ही एक ओर सत्व-प्रधान ग्यारह इन्द्रियों की सृष्टि होती हैं, तो दूसरी ओर तमः-प्रधान पञ्च तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। यह सूक्ष्मभूत रूप हैं शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। इन पाँच तन्मात्राओं में से प्रथमतः शब्द तन्मात्र उत्पन्न होता है; इन्हीं तन्मात्राओं से आकाश आदि महाभूतों की उत्पत्ति होती है। अतः विश्व के सभी पदार्थ इन्हीं पञ्चतन्मात्राओं-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का समुदाय मात्र हैं। इस आधार पर यही कहा जा सकता है कि घण्टा आदि द्रव्यों तथा वाक् इन्द्रियों में गन्धादि के समान शब्द भी पूर्वतः अवस्थित रहता है। दण्ड आदि तथा वायु के अभिघात से वही पूर्ण-अवस्थित शब्द अभिव्यक्त हो जाता है।

बौद्ध मत

वात्स्यायन ने शब्द के विषय में बौद्धों के मत का उल्लेख करते हुए लिखा है कि बौद्ध आचार्य शब्द को आकाशादि में आश्रित नहीं मानते, क्योंकि शब्द निरवयव हैं।[१] शब्द विषयक बौद्धों का मत 'दैशिक व्याप्ति' से रहित हैं। क्षणिक होने से 'कालिक व्याप्ति' से भी रहित हैं। अर्थात् शब्द-स्वरूप के विषय में बौद्ध दार्शनिक 'क्षणिक ध्वनि' को ही शब्द मानते हैं। धर्मकीर्ति ने भी शब्द को ध्वनिरूप तथा अनित्य माना है और उनकी वाचकता को स्वीकार किया है।[२]

जैन दार्शनिक तथा आचार्य प्रभाचन्द्र ने शब्दों को पुद्गल का कार्य मानते हुए उन्हें पुद्गलों में उसी प्रकार आश्रित माना हैं, जिस प्रकार कोई भी कार्य-द्रव्य अपने कारण-द्रव्य में आश्रित रहता है। यहाँ शब्द के पौद्गलिक होने का अर्थ है कि 'शब्द' द्रव्य है और परमाणु-जन्य है। शब्द भी एक प्रकार के परमाणुओं के संयोग-विशेष का फल है। अतः जैन दर्शन में शब्दों को पुद्गलों का कार्य मानते हुए द्रव्यरूप माना जाता है और इस पुद्गल की उत्पत्ति परमाणुओं से बतायी गई है। ये परमाणु परिमाण-रहित एवं नित्य माने गये हैं। जैन दार्शनिकों ने वाचक शब्दों को नैयायिकों के समान गुण न मानकर द्रव्य माना है तथा उन्हीं के समान वर्णात्मक एवं अनित्य भी स्वीकार किया है। इन्होंने स्फोटवाद का खण्डन भी किया है।

१. न्याय भाष्य, २.२.१२।
२. प्रमाणवार्तिक, स्वार्थानुमान, पृ० २७०।

वैयाकरण मत

वैयाकरणों के मत में भाषा निरर्थक ध्वनि मात्र नहीं है वह सार्थक शब्द-समष्टि है। वैयाकरण शब्द के विवेचन में अर्थ को भी स्वीकार करता है। व्याकरण-शास्त्र का विषय अर्थवान् शब्द ही है, यह बहुत स्पष्ट तथ्य है। पतञ्जलि का शब्द-स्वरूप विषयक मन्तव्य भी इसी से प्रभावित है। उनके अनुसार ''व्याकरण का विवेच्य विषय लौकिक और वैदिक सार्थक शब्द ही हैं।''[१] शब्द-स्वरूप की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा है ''गौ यह जो ज्ञात होता है, उसमें प्रतीत होने वाली वस्तुओं में शब्द क्या है? लोक में शब्द और अर्थ का अभेद व्यवहार इस प्रश्न का बीज है। अर्थात् जब समाने उपस्थित गल, कम्बल, कूहान तथा खुर वाले पशु-विशेष के विषय में प्रश्न उठता है कि यह क्या है? यहाँ पदार्थ का संकेत करते हुए 'शब्द' उद्देश्य है और 'गौ' विधेय है। दोनों का समानाधिकरण से निर्देश हुआ है। अर्थ शब्द हैं ऐसा कह रहे हैं; यहाँ शब्द और अर्थ का अभेद है। इस अभेद के कारण द्रव्य में शब्द की शंका उत्पन्न हो जाती हैं। अतः क्या शब्द और द्रव्य में भेद है? या शब्द ही द्रव्य है? अर्थात् गौ के उच्चारण के अनन्तर बुद्धि में जो नानार्थक जाति, गुण, क्रिया आदि भासते हैं उनके साथ भी शब्द का तादात्म्य होने के कारण उनके विषय में यह शंका उचित ही है।

शब्द को द्रव्य, गुण, क्रिया तथा जाति से पृथक् बताते हुए पतञ्जलि ने 'सास्नालांगूलककुदखुरादि' से युक्त वस्तु को द्रव्य; इंगित, चेष्टित तथा निमिषत को क्रिया, शुक्ल पीतादि को गुण तथा भिन्नों से अभिन्न और छिन्नों से अछिन्नरूपेण विद्यमान को जाति बताया है, शब्द नहीं।[२] इसके अनुसार 'येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूल-ककुदखुर-विषाणिनां सम्प्रत्यो भवति स शब्दः।' अतः शब्द, द्रव्य, गुण, क्रिया से भिन्न सत्ता है।

शब्द की इस परिभाषा से सिद्ध होता है कि भाषा की मूलभूत इकाई एक निरवयव वाक्यात्मक शब्द है न कि वर्ण या वर्णों की समष्टि। इसके अतिरिक्त पतञ्जलि ने शब्द की एक अन्य परिभाषा प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि 'लोक में प्रचलित ध्वनि को भी शब्द कहते हैं जिससे अर्थ की प्रतीति होती है। अर्थात् लोक-व्यवहार में ध्वनि ही शब्द समझी जाती है। अतः ध्वनि को शब्द मानते हुए कहा गया है 'शब्दं कुरु (शब्द करो), मा शब्दं कार्षीः (शब्दमत करो)' इससे स्पष्ट होता है कि ध्वनि ही शब्द है।[३] उपर्युक्त दोनों मतों का सरल आशय इस प्रकार है—

'जिसके उच्चारण से सास्नादिमान् का बोध होता है वह शब्द है।' इस लक्षण में से सास्नादिमान् पद को हटाने से शब्द की परिभाषा इस प्रकार होगी

---

१. लौकिकानां वैदिकानां च। महा० आ० १।

२. महाभाष्य आ० १।

३. महाभाष्य आ० १।

''येनोच्चारितेन सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः।'' अर्थात् जो उच्चरित होकर किसी अर्थ का प्रत्यायक (प्रतीति कराने वाला) हो वह शब्द है। यहाँ 'उच्चरित पद' शब्द के ध्वन्यात्मक स्वरूप को प्रस्तुत करता है तो 'संप्रत्यय पद' शब्द के सांकेतिक रूप को व्यक्त करता है। अतः पतञ्जलि के मत का अभिप्राय यह है कि प्रतीत-पदार्थक ध्वनि को ही शब्द कहते हैं। अर्थात् स्पष्ट अर्थ वाली ध्वनि को शब्द कहा जाता है।

पतञ्जलि के इन दोनों शब्द-स्वरूपों में थोड़ा सा भेद प्रतीत होता है, अर्थात् यदि संप्रत्यायक ध्वनि को शब्द माना जायेगा तो 'टि', 'घु', 'भ' आदि कृत्रिम संज्ञायें भी शब्द मानी जायेंगी क्योंकि इनके द्वारा भी किसी न किसी का संप्रत्यय होता है। इसीलिए पतञ्जलि ने इनके स्थान पर प्रतीतपदार्थक पद रखना अधिक उचित समझा 'प्रतीतपदार्थको ध्वनिः शब्दः लोके।'

द्वितीय परिभाषा में उन्होंने 'लोकं' पद का प्रयोग किया है। प्रथम परिभाषा के अनुसार कृत्रिम संज्ञाओं को भी शब्द कहा है, परन्तु द्वितीय के अनुसार सामान्यरूपेण वे शब्द नहीं हैं। पतञ्जलि ने ध्वनि को शब्द कहा है उनके पूर्व औदुम्बरायण आदि ने 'इन्द्रियनित्यवचनम्'[1] की धारणा प्रस्तुत कर दी थी क्योंकि उच्चरित होकर क्षणान्तर में नष्ट हो जाने वाले वर्ण अर्थ का बोध नहीं करा सकते। अतः उन्होंने शब्द की ध्वनिसमूह के रूप में सत्ता मानने से इनकार कर दिया। उनके अनुसार 'शब्द धारणा या बुद्धि का विषय है, इन्द्रियजन्य उत्पत्ति का नहीं। इसी मत को व्याख्यान्तर द्वारा 'तस्माद् ध्वनिः' के रूप में प्रस्तुत कर दिया है। पतञ्जलि की यह 'शब्द विषयक' धारणा यास्काचार्य की 'अर्थं नित्यम् परीक्षेत्'[2] के अनुसार ही है। कारणस्वरूप शब्दों के निर्माण या उनकी प्रवृत्ति की परीक्षा भी उनके अर्थों के आधार पर होनी चाहिए। अतः जो भी ध्वनि-समूह किसी भी अर्थ-संप्रत्यय को व्यक्त करने में समर्थ हैं, वे ही शब्द कहे जा सकते हैं। इन्हीं सब मान्यताओं के आधार पर कात्यायन ने ''सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे''[3] का प्रतिपादन किया है। इस वार्तिक की व्याख्या में पतञ्जलि ने शब्द को सापेक्षिक दृष्टि से नित्य मानकर अर्थ को भी नित्य माना है[4], साथ ही उन दोनों के सम्बन्ध को भी नित्य माना है। शब्द-स्वरूप में इसी अर्थप्रत्यायकता को प्रतिपादित करते हुए भर्तृहरि ने लिखा है ''शब्द तथा अर्थ अविच्छेद्य हैं; साथ ही इनका सम्बन्ध भी नित्य है।[5]

इसका अभिप्राय यह है कि जब भी हम कुछ सुनते हैं, जब तक उससे कुछ अर्थ की प्रतीति नहीं होती तब तक उसे 'शब्द' नहीं कहा जा सकता। अतः अनर्थक ध्वनि हो या तथाकथित 'शब्द', जिससे कि किसी पदार्थ का संप्रत्यय नहीं होता, तो इन दोनों का महत्त्व एक समान है वे श्रोता के लिए अर्थहीन हैं। पदार्थ के संप्रत्यय

---

१. निरुक्त, १.२.२७।
२. निरुक्त, १.१.३।
३. महाभाष्य आ० २।
४. महाभाष्य आ० १।
५. वाक्यपदीय १.२३।

का अर्थ किसी आकार की उपलब्धि नहीं, अपितु कोई भी विनिश्चय या प्रतिक्रियात्मक उपलब्धि जो श्रोता के मन में किसी ध्वनि विशेष द्वारा उठती है, जो ध्वनि ऐसी प्रतीति उत्पन्न कराती है वही शब्द कही जायेगी। अतः महाभाष्यकार के 'प्रतीतपदार्थको हि लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते' इस कथन का यही भाव है।

पतञ्जलि के इस 'अर्थ-प्रत्यायकता' का आधार आचार्य पाणिनि की मान्यता के अनुकूल है। आचार्य पाणिनि ने 'अर्थवद्धातुप्रत्ययः प्रातिपदिकम्'[१] के द्वारा प्रातिपदिक धातु तथा प्रत्यय की नित्य अर्तवर्त्ता का निर्देश किया है। सुबन्त हो या तिङन्त सभी शब्दस्वरूपों का समस्त विस्तार प्रातिपदिक या धातु से ही सम्भव हो पाता है। पाणिनि ने उपसर्ग तथा निपातों को भी प्रत्यक्ष रूपेण प्रातिपदिकों की कोटि में मानकर सुबन्तादि प्रत्ययों को सिद्धान्ततः स्वीकार किया है। भले ही बाद में उन प्रत्ययों का अदर्शन स्वीकार कर लेते हों।[२]

स्फोट एवं ध्वनि-विवेचन

पतञ्जलि ने 'तपरस्तत्कालस्य'[३] सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में स्फोट एवं ध्वनि पर प्रकाश डाला है। ध्वनि स्फोट का 'व्यंजक तत्त्व' है, इसी ध्वनि के माध्यम से शब्द की अभिव्यक्ति होती है। इस व्यंजकध्वनि के बिना स्फोट की अभिव्यक्ति नहीं होती। ध्वनि के द्वारा जो शब्द में लघुता, वृद्धि, अल्पता, महत्ता आदि है,[४] इसे उसी प्रकार समझना चाहिए जिस प्रकार भेरी बजने पर भेरी का शब्द (ध्वनि) कोई २० गज जाता है, कोई ३० और कोई ४०। स्फोट शब्द उतना ही होता है। पतञ्जलि के अनुसार शब्द के दो रूप हैं—एक स्फोट और दूसरा ध्वनि। इनमें से ध्वनि ही अल्प या महान् होती है। मनुष्य जिन ध्वनियों का उच्चारण करता है, वे वर्णात्मक होने के कारण ध्वनि के साथ ही स्फोट का भी बोध कराते हैं। पशु-पक्षी आदि में केवल ध्वनि का ही ग्रहण होता है।[५] 'स्फोटः शब्दः, ध्वनिः शब्द-गुणः'[६] इस वक्तव्य में महाभाष्यकार ने ध्वनि को शब्द का गुण कहा है अर्थात् ध्वनि शब्द (स्फोट) का उपकारक या व्यंजक है, अथवा स्फोट को द्योतित करने वाले 'शब्द व्यक्ति' का नाम ध्वनि है। भर्तृहरि भी पंतजलि के इसी मत से सहमत हैं; उनके अनुसार "अनित्य पक्ष में स्थान और करण के संयोग और विभाग के कारण स्फोट अभिव्यक्त होता है,

१. अष्टाध्यायी, १/२/४६।
२. अष्टाध्यायी, २/४/८४।
३. अष्टाध्यायी, १/१/७०।
४. एवं तर्हि स्फोटः शब्दः। ध्वनिः शब्दगुणः। कथम्? भेर्याघातवत्। यथा भेर्याघातः भेरीमाहत्य कश्चिद् विंशतिपदानि गच्छति, कश्चित् तिंशत् कश्चिच्चत्वारिंशत् स्फोटस्तावानेवध्वनिकृता वृद्धिः। महाभाष्य १.१.७०।
५. ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां तत्स्वभावतः। महाभाष्य १.१.७०।
६. महाभाष्य १.१.७०।

वही शब्द है।'' भर्तृहरि ने स्पष्ट किया है कि लोग पद या वाक्य का उच्चारण करते हैं, या सुनते हैं, तब वह मान बैठते हैं कि वर्णों का पृथक्-पृथक् उच्चारण हो रहा है, और अन्तराल में कोई ध्वनि नहीं है। यह शाश्वत भ्रम है जो पदों और वाक्यों के ज्ञान का उपाय बनता है। क्षीर के विकार में एवं बीजाङ्कुर के विकार में जो आनुपूर्वी का नियम होता है, वैसा ही नियम वर्ण-बुद्धियों पर लागू होता है, अर्थात् क्षीर से दधि बनने में विकार की पूरी प्रक्रिया दृष्टिगोचर नहीं होती है। उसी प्रकार वर्णों के मध्य में आने वाले 'नाद' बुद्धि में नहीं उतरते। बीज का अङ्कुरीभाव होता चलता है परन्तु प्रतिक्षण विकार बुद्धि में नहीं उतरता। अतः सामान्यतया प्रतिदिन की वृद्धि को बृद्धि माना जाने लगता है। जबकि प्रतिक्षण अन्तराल-वृद्धि होती चलती हैं। उसी प्रकार पद या वाक्य के उच्चारण में नाद की निरन्तरता होने पर भी कुछ स्पष्ट ध्वनियों को 'वर्ण' कह दिया जाता है और अन्तराल को छोड़ दिया जाता है।[१]

उक्त रीति से यह सिद्ध होता है कि विपर्यय भी सम्यक् ज्ञान का निमित्त हो सकता है। ज्ञान, ज्ञेय, वाक्, अर्थ इन सबमें पदविवर्त ही वृत्ति-ज्ञान का कारण बनता है। अतः वर्ण, पद और वाक्य में भेद-विपर्यय अभिन्न स्फोट और अभिन्न अर्थ देने का साधन बनता है।[२]

वैयाकरणों के सिद्धान्त के अनुसार यह स्फोट रूप 'शब्द' मुख्यरूपेण वाक्य-रूप हैं, तथा गौणरूपेण 'पदरूप' तथा प्रकृति-प्रत्यय आदि के रूप में भी हैं। उच्चारण की जाने वाली सभी ध्वनियाँ इसी 'स्फोट रूप' शब्द को प्रकाशित करती हैं। इन ध्वनियों से अभिव्यक्त हुआ स्फोट रूप शब्द जो कि तत्त्वतः निरवयव होता है, प्रकाशात्मक होने से स्वरूप और अर्थ दोनों का श्रोतृ-बुद्धि में प्रकाश कर देता है। तथा श्रोता को शब्द-स्वरूप से उपयुक्त अर्थ का बोध हो जाता है। कैयट और नागेश ने स्पष्ट किया है कि वह सत्ता जिसको शब्द कहते हैं, और जिसके द्वारा अर्थ-बोध होता है, वह स्फोट है। आगे उन्होंने कहा है कि भाष्यकार स्फोट और ध्वनि को भिन्न मानते हैं, तथापि शब्द के लक्षण में 'शब्द' को 'शब्द' कहने का अभिप्राय यह है कि द्रव्य, गुण, क्रिया आदि शब्द नहीं हैं। शब्द इनसे भिन्न है, उसे शास्त्रीय दृष्टि से स्फोट और लौकिक दृष्टि से ध्वनि कहते हैं। पूर्वोल्लिखित पतञ्जलि के अर्थ-प्रत्यायक वर्णातिरिक्त निरवयव शब्द को ही मुख्यरूपेण शब्द मानते हुए वैयाकरणों ने उसे ही स्फोट नाम से अभिहित किया है। स्फोटवाद के समर्थकों ने इसी को अपना आधार बनाया है।

---

१. वाक्पदीय १/८६-९२।

२. विपर्यासो निमित्तं च सम्यग्बोधस्य दर्शितः।
किञ्चिद् भेदानुकरोऽपि दृष्ट एव विपर्ययः॥
स्फोट - सिद्धि, श्लोक २२।

शब्द ग्रहण होने पर यदि श्रोता को उस शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध विदित होता है, तो उसे उस शब्द से एक अर्थ की प्रतीति होती है। उदाहरणार्थ 'गौ:' यह शब्द कहते ही ''सास्नादिमान्''[१] एक अर्थ श्रोता के मानसपटल पर उभर कर सामने आता है, शब्द-बोध में भासमान यह अर्थ अन्वयव्यतिरेक द्वारा इस 'गौ:' का ही मानना होगा। क्योंकि इसी के गृहीत होने पर यह प्रतीत हुआ है। वर्णवादियों में से नैयायिक आदि प्रथम वर्ग के लोगों का कथन है कि श्रूयमाण उत्पादविनाशशाली वर्ण-ध्वनियाँ गकार औकार और विसर्ग ही शब्द हैं। और वे ही इस अर्थोपस्थापन का निमित्त हैं। जबकि पूर्वोत्तरमीमांसकों के अनुसार इन विनश्वर ध्वनियों से अभिव्यक्त हुआ नित्यवर्ण ही शब्द है और उसी से यह अर्थबोध होता है। वैयाकरणों को दोनों ही पक्षों का मत सन्तोषजनक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि नैयायिकों के समान चाहे वर्णों की उत्पत्ति मानी जाय, चाहे मीमांसकों के समान उनकी अभिव्यक्ति मानी जाय; दोनों ही अवस्थाओं में वर्णों से अर्थ-प्रत्यय का होना सम्भव नहीं है।

नैयायिकों के मतानुसार उत्पत्तिपक्ष में उत्पन्न वर्ण-ध्वनियाँ दो प्रकार से ही अर्थ का बोध करा सकती हैं—

१. प्रत्येक उत्पाद्यमान वर्ण-ध्वनि जब अर्थ का बोध कराए।

२. सभी वर्ण मिलकर समुदितरूपेण अर्थ बोध करायें।

वैयाकरणों की दृष्टि में दोनों ही विकल्पों में अर्थ-प्रतीति का होना असंभव है, क्योंकि प्रथम विकल्प के अनुसार प्रथम ध्वनि से ही अर्थ-प्रत्यय हो जाने के कारण द्वितीय आदि ध्वनियों का उच्चारण व्यर्थ होगा। अर्थ-प्रतीति कराने के लिए ही तो उनका उच्चारण किया जाता है, अतः जब प्रथम उच्चरित ध्वनि से ही अर्थ की उपस्थिति हो गई तो द्वितीय वर्ण ध्वनि आदि का प्रयोग किस प्रयोजन के लिए? तब यही कहना होगा कि वर्ण समुदित रूप से अर्थ बोध कराते हैं। परन्तु समुदाय के सम्भव न होने के कारण यह द्वितीय विकल्प भी सम्भव नहीं है; क्योंकि नैयायिक आदि के इस उत्पत्ति पक्ष में वर्णों की उत्पत्ति क्रमशः ही होती है। जब गकार उत्पन्न होता है तब औकार और विसर्ग नहीं। जब औकार का उच्चारण होता है तब एक ओर तो पूर्वोत्पन्न गकार नष्ट हो जाता है, दूसरी ओर विसर्ग अभी उत्पन्न ही नहीं हुआ है। इस प्रकार नैयायिकों को उत्पत्ति-पक्ष में उत्पन्न वर्णों का समुदाय ही सम्भव नहीं हो सकता तो समुदित होकर अर्थबोध कराने की बात ही कैसे हो सकती है? इस प्रकार उत्पत्ति पक्ष में ध्वनियों से अर्थबोध मानना युक्तिसंगत नहीं है।

मीमांसकों के अभिव्यक्ति पक्ष में भी यही दोष सामान्यरूपेण उपस्थित होता है, यहाँ भी दो विकल्प हैं—

प्रथम विकल्प के अनुसार द्वितीय आदि वर्णों की अभिव्यक्ति व्यर्थ होने से उसके लिए किया गया द्वितीय आदि वर्णों का उच्चारण व्यर्थ है। प्रथम अभिव्यक्त

---

१. प्रदीपोद्योत, महा० आ० १।

वर्ण से ही अर्थबोध हो जाने पर द्वितीय आदि वर्ण किसलिए उच्चारित किया जाय? यदि द्वितीय विकल्प का आश्रय लेकर अभिव्यक्त वर्ण समुदित रूप से अर्थबोध करायेंगे और वाणी के नित्य होने से उनके समुदाय के संभव न होने का दोष यहाँ नहीं आता, तो यह ठीक नहीं कहा जा सकता ; क्योंकि अभिव्यक्ति-पक्ष में भी वर्णों को उनकी सत्ता-मात्र के आधार पर वाचक नहीं माना जा सकता ; क्योंकि उसके मत में वर्णों के नित्य और विभु होने से उनकी सत्ता तो सर्वत्र और सर्वथा है। अतः सत्ता-मात्र से वाचक मानने पर सर्वत्र और सर्वदा अर्थबोध की आपत्ति होगी। इसलिए उन्हें अभिव्यक्ति के आधार पर वर्णों को वाचक मानना होगा।

इसका समाधान यह है कि वर्णों की चाहे अभिव्यक्ति स्वीकार करें या उत्पत्ति, परन्तु वर्णों की वाचकता उत्पन्न नहीं होती। प्रत्यक्षरूपेण शब्द अपने वाच्य अर्थ का बोध अवश्य कराता है। उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो चुका है कि वर्णों से अर्थबोध होना असम्भव हैं अतः शब्द का वर्णातिरिक्त कोई ऐसा स्वरूप मानना पड़ेगा जो गृहीत होने पर अर्थ का बोध कराये। वैयाकरणों का सिद्धान्त है कि अर्थबोधक शब्द का यही वर्णातिरिक्त स्वरूप 'स्फोट' है। कैयट ने पतञ्जलि के शब्द-स्वरूप सम्बन्धी तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए उपर्युक्त तथ्य को ही प्रतिपादित किया है।[१]

कुमारिल भट्ट आदि आचार्यों के अनुसार शब्द की अभिव्यञ्जना में भी स्फोट की कोई आवश्यकता अनुभव नहीं होती।

कुमारिल का यह तर्क निस्सार है; क्योंकि प्रयत्न-भेद से उच्चारित ध्वनियाँ स्फोट की प्रकाशिका हैं। यह स्फोट पहले अनुपाख्येय रहता है। वर्णों के प्रतिबिम्बन से शब्दरूप ज्ञान का उदय होता है और तब अर्थ-बोधानुकूल पूर्ण स्फोट भासित होता है, जैसे कोई रत्नों का परीक्षक क्रमशः रत्नों का परीक्षण करता है और अन्तिम बोध में रत्न-तत्त्व प्रकाशित होता है। उसी प्रकार स्फोट में जन्म लेने वाला संस्कार प्रथम वर्ण से अन्तिम वर्ण तक एकीभूत बोध उत्पन्न करता है।[२] जिस प्रकार कोई श्लोक या अध्याय आवृत्ति से अभ्यस्त हो जाता है, और तब पाठ के समय ग्रन्थ नहीं देखना पड़ता, उसी प्रकार वर्ण-बोधों से प्रकाशित स्फोट-शब्द में स्वरूप का अवधारण हो जाता है। बुद्धि में नादों से बीजारोपण होता है। अन्तिम ध्वनि से बुद्धि परिपक्व होती है तब बुद्धि में शब्द आकार लेता है।[३]

ध्वनि के प्रकार

वाक्पदीय की हरिवृत्ति में व्याडि के 'संग्रह' ग्रन्थ का एक श्लोक उद्धृत किया गया है, जिसमें ध्वनि के भेदों की चर्चा करते हुए कहा गया है 'ध्वनि के दो भेद होते हैं प्राकृत और वैकृत।' संग्रहकार कहते हैं—

---

१. प्रदीपोद्योत, महा० आ० १।

२. प्रयत्नभेदतो भिन्ना ध्वनयोस्वप्रकाशकाः।
प्रत्येकमनुपाख्येय ज्ञानं तद् भावनाक्रमात्॥ स्फोट-सिद्धि, श्लोक १८।

३. वाक्यपदीय १/८०-८५।

शब्दस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।
स्थितिभेदे निमित्तत्वं वैकृतं प्रतिपद्यते॥[१]

इनमें 'प्राकृत' ध्वनि उसे कहते हैं जिसके बिना स्फोट का रूप अभिव्यक्त नहीं होता तथा अपरिच्छिन्न नहीं होता। स्फोट का विभिन्न रूप से परिच्छेदक एवं ग्राहक नाद ही प्राकृत है। वैकृत ध्वनि उस ध्वनि को कहते हैं जो अभिव्यक्त स्फोट को व्यक्त करते हुए प्राचीनतर कालपर्यन्त अभिव्यक्त करने का हेतु होता है। अर्थात् स्फोट की स्थिति का हेतु होता है।

'प्राकृतो स्फोटस्वभावे स्फोटस्वरूपे भवः प्राकृतः।'

स्थिति भेद अर्थात् द्रुत, विलम्बित आदि वृत्ति के ग्रहण में हेतुभूत ध्वनि को 'वैकृत' कहते हैं।

प्राकृत तथा वैकृत ध्वनि का स्वरूप

भर्तृहरि के मतानुसार प्राकृत-ध्वनि के द्वारा अनभिव्यक्त स्फोट का परिज्ञान होता है, तथा वैकृत ध्वनि के द्वारा स्फोट बार-बार दीर्घतर आदि क़ाल के साथ प्रतीति का विषय बनता है। जब तक वैकृत ध्वनि उपरत नहीं होती तब तक स्फोट उपलब्ध नहीं होता। इन दोनों ध्वनियों का स्फोट के अभिव्यक्ति और उपलब्धि काल में स्पष्ट भेद मालूम नहीं होता है। उनमें भी स्फोट और प्राकृत ध्वनि का नीरक्षीर की तरह अविवेक होता है। ग्रन्थकार ने इन दोनों को स्पष्ट रूप से कहा है—

स्वभावभेदान्नित्यत्वे ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु।
प्राकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्येत्युपचर्यते॥[२]
शब्दस्योद्‌र्ध्वमभिव्यक्तेः वृत्तिभेदं तु वैकृतः।
ध्वनयः समुपोहन्ते सफोटात्मा तै र्न भिद्यते॥[३]

इसका तात्पर्य है कि शब्दाभिव्यक्ति के पहले जायमान प्राकृत ध्वनि स्फोट के ग्रहण में हेतु है। स्फोट रूपी शब्द की अभिव्यक्ति के बाद उत्पन्न होने वाली ध्वनियाँ द्रुतादि-वृत्तिभेद में कारण होती हैं। प्राकृत ध्वनि अविकृत स्फोट में कत्व, खत्वादि वर्ण-धर्मों की आरोपक और वैकृत ध्वनि उसी स्फोट में द्रुतमध्यमादि धर्मों का आरोपक होती है।

वाक्यपदीय के टीकाकार 'वृषभ' के अनुसार 'स्फोट-रूपी' प्रकृति से उद्‌भूत ध्वनि को 'प्राकृत ध्वनि' कहते हैं। उस ध्वनि के उत्तरकाल में होने वाली ध्वनियाँ उससे विलक्षण प्रतीत होती हैं। ये मानों स्फोट की विकार हैं, इसलिए उन्हें 'वैकृत ध्वनि' कहते हैं।[४]

---

१. वाक्यपदीय, १/७६ को स्वोपज्ञ टीका में संग्रह का उद्धरण।
२. वाक्यपदीय, १.७५।
३. वाक्यपदीय, १.७६।
४. वृषभ, हरिवृत्ति में उद्‌धृत १.७७।

देवसूरि के मतानुसार 'प्राकृत ध्वनि' वह है, जिसके बिना सामान्य या विशेष-रूपेण स्फोट की प्रतीति नहीं होती है। स्फोट की अभिव्यक्ति के बाद जिन ध्वनियों से 'यह वह है' इस रूप में देर तक स्फोट की उपलब्धि होती रहती है वे वैकृत ध्वनियाँ हैं।[१] संग्रहकार व्याडि ने कहा है 'स्फोटरूप' शब्द के ग्रहण में 'प्राकृत ध्वनि' हेतु मानी जाती है और स्थिति या वृत्ति के भेद से वैकृत ध्वनियाँ निमित्त रहती हैं।

नित्यवादियों के सिद्धान्त में प्राकृत ध्वनि ही स्फोट-व्यञ्जक है; जबकि अनित्यवादियों के मत में वही स्फोट है। इसे ही कारणरूप प्राकृतध्वनि तथा कार्यरूप वैकृत ध्वनि भी कह सकते हैं। इनमें स्फोट के ग्रहण में कारण रूप में रहने वाला प्राकृतध्वनि है, तो स्फोट से अन्य शब्दसन्तान रूप में जन्म लेनेवाला महान् तथा अल्पस्वरूप वैकृतध्वनि है। वहीं चिराचिरकाल वृत्ति की निमित्त एवं न्यूनाधिकदेश व्याप्ति की निमित्त हैं। जैसे छोटी सूई छोटे देश को आच्छादित करती तथा बड़ा पर्वत बड़े देश को आच्छादित करता है। उसी प्रकार शब्द भी बड़े देश को आच्छादित करता हुआ अल्प तथा महान् है। महाभाष्यकार ने भेरी शब्द को दृष्टान्तरूप में लिया है।[२] तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार भेरी की प्राकृत ध्वनि एक होती है जिससे जनित वैकृत ध्वनियाँ असंख्य हो सकती हैं; उसी प्रकार स्फोट शब्द एक ही रहता है, वृत्ति अथवा लय, अल्पता और महत्ता, समीप-व्याप्ति और दूर-व्याप्ति में अन्तर हो सकता है। यदि यह कहा जाय कि भाष्यकार 'प्राकृत भेरी शब्द' को स्फोट मानते होंगे, तो ग्रन्थों के मन्थन से ऐसा नहीं प्रतीत होता; क्योंकि यह पूरी व्याख्या 'भेर्याघातवत्' वार्तिक पर टिकी है जिसमें भेरी शब्द को उपमान बनाया गया है।

भर्तृहरि ने स्पष्ट किया है कि आघात-क्षण का शब्द प्राकृत है, किन्तु तरङ्गाकार लेते ही वैकृत ध्वनि हो जाती है। प्राकृत ध्वनि अनुमित है; क्योंकि उसके बिना कार्यरूप वैकृत ध्वनियाँ निष्पन्न नहीं हो सकतीं। श्रवण में वैकृत ध्वनियाँ ही आती हैं। ये वैकृत ध्वनियाँ श्रवणगोचर होकर स्फोट शब्द को व्यक्त करती हैं जिसमें वृत्ति (लय) आदि के भेद नहीं होते।

शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदं तु वैकृताः।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते॥[३]

अर्थात् प्राकृत शब्द की अभिव्यक्ति के ठीक अनन्तर वैकृत-ध्वनियाँ वृत्ति-भेद प्राप्त करती हैं। उस ध्वनि में संसर्ग लेकर भी स्फोट भेद-ग्रहण नहीं करता। वह काल-भेद से अतीत रहकर अर्थ-बोध कराता है। 'स्वोपज्ञ-टीका' में कहा गया है

१. स्यादवादरत्नाकर, ४.१०।
२. देखिए, प्रदीप।
३. वाक्यपदीय, १/७७।

कि प्राकृत शब्द प्रकाशवत् होता है। उसके अभिव्यक्त होने के उत्तरकाल में शब्द-विषयक बुद्धि-वृत्ति बनती है जहाँ काल-भेद का व्यवहार नहीं होता।

प्राकृत-ध्वनि के भेद के विषय में भर्तृहरि ने बताया है कि 'अप्रचित ध्वनि' 'ह्रस्व' को 'प्रचित ध्वनि' 'दीर्घ' को तथा 'प्रचिततर ध्वनि' प्लुत को व्यक्त करती है। कैयट ने लिखा है कि ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत स्वतः भिन्न हैं और इसलिए भिन्न-भिन्न ध्वनि से व्यञ्जित होते हैं। अतः उनमें परस्पर काल-भेद माना जाता है।[१] इन्हीं के भाव को स्पष्ट करते हुए देवसूरि ने लिखा है कि जो ध्वनि सर्वप्रथम उत्पन्न होती है, वह मात्राकालिक है। उनके द्वारा जो स्फोट अभिव्यक्त होता है वह भी यद्यपि निरवयव और पूर्वापर-भाग से रहित है। शास्त्र में व्यवहार के लिए उसे ह्रस्व शब्द से प्रकट करते हैं। प्राकृत ध्वनि को पृथक् बताते हुए देवसूरि ने लिखा है कि पूर्वोक्त प्लुत नामक तृतीय ध्वनि के पश्चात् अभिव्यक्त होनेवाली ध्वनियाँ वैकृत ध्वनियाँ कहलाती हैं।[२] उनका काल स्फोट में आरोपित नहीं होता; वह केवल ध्वनिकाल है; शब्द काल नहीं। विशिष्ट अभिघात से उत्पन्न ध्वनियों में कुछ ध्वनियाँ किसी दूसरी ध्वनि को व्यापादित किए बिना ही विलीन हो जाती हैं। कुछ ध्वनियाँ किसी ध्वनि को उत्पन्न करके नष्ट हो जाती हैं, कुछ दो ध्वनियों को और कुछ बहुत ध्वनियों को जन्म देकर विलीन हो जाती हैं। अतः 'शब्दकाल' ध्वनिकाल से भिन्न हैं। द्रुता, मध्यमा तथा विलम्बिता वृत्तियों में भेद होते हुए भी वर्णकाल एक ही रहता है। उसी एक वर्ण को कोई शीघ्रता से उच्चारण करता है, कोई विलम्ब से। अतः वक्ता के उच्चारण भेद से वर्णों में अपचय या उपचय नहीं माना जाता है।

इसी प्रकार द्रुत, विलम्बित आदि वृत्तियों में मकार, अकार के रूप में अकार ही रहता है। उसमें कोई भेद सम्भव नहीं। अतः वृत्ति-भेद होते हुए भी वर्ण-भेद नहीं होता। इसलिए सभी वृत्तियों में तत्काल (एक ही वर्णकाल) माना जाता है। जबकि ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत में काल भेद माना जाता है। पतञ्जलि ने भी इसी प्रकार का आशय स्पष्ट किया है।[३] 'ध्वनियाँ शब्दोपलब्धि की निमित्त हैं' उसमें तीन मत प्रसिद्ध हैं—

कोई कहता है कि ध्वनि उत्पन्न होकर इन्द्रियों का संस्कार करती है और इन्द्रियाँ शब्द की ग्राहक होती हैं। किसी का मत है कि ध्वनि शब्द को ही संस्कृत करती है और श्रोत्र उसका ग्राहक है। कोई ध्वनि के द्वारा संस्कार मानता है। इस तथ्य को ग्रन्थकार 'इन्द्रियस्यैव संस्कारः' इत्यादि कारिका के द्वारा स्पष्ट करते हैं। इस तरह वाक्यपदीयकार के मत में एक स्फोटरूप शब्द ही सत्य और नित्य है, वर्ण, पदादि रूप कल्पित हैं। तत्पश्चात् वे ध्वनियाँ कैसे उत्पन्न होती हैं इसका विवरण देते हैं—

---

१. प्रदीप, महाभाष्य १/१/७०।
२. स्याद्वाद रत्नाकर ४/१० पृष्ठ ६५४ पर।
३. वक्तुश्चिराचिरवचनाद् वृत्तयो विशिष्यते इत्यादि। महाभाष्य १/१/७०।

अनवस्थितकम्पेऽपि करणे ध्वनयोऽपरे।
स्फोटादेवोपजायन्ते ज्वालाज्वालान्तरादिव॥[१]

प्रथमतः अभिघात रूप कम्प से प्राकृत ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। तत्पश्चात् वैकृत नाद उत्पन्न होता है। अर्थात् पहले स्थानकरण कम्प से स्फोट का अनुग्राहक प्राकृतनाद उत्पन्न होता है। दोनों कम्पों के मध्य में नाद से ही नाद उत्पन्न होता है तब तक स्फोट के अनुग्राह के प्राकृत नाद के जनक कम्पों की अनुवृत्ति भी होती रहती है।

इस प्रकार अभिघातों से शब्द उत्पन्न होता है, वह करण कम्प के निवृत्त होने पर भी वैकृतनादों को उत्पन्न कराकर निवृत्त होता है। कम्प से उत्पन्न स्फोट के समकालीन प्राकृत ध्वनियाँ स्फोट का संस्कार करती हैं। यही ध्वनियों से स्फोट का संस्कार है। यहाँ शब्द परम्परा की उत्पत्ति ईंधन से ज्वाला के समान है। अर्थात् एक नाद से अन्य नाद उत्पन्न होकर अर्थ को प्रकाशित करते हैं।

शब्दोत्पत्तिविषयक विभिन्न मत

शब्द की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न मत उपलब्ध हैं, जिसका संक्षिप्त उल्लेख निम्नलिखित हैं—

प्रातिशाख्य मत : 'शुक्लयुजःप्रातिशाख्य' में शब्द को वायु का परिणाम बताया गया है। अतः वायु सर्वव्यापक होने पर जब साधन-विशेषों को प्राप्त होता है तब शब्द रूप में लक्ष्य होता है।[२] 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' में शौनक का मत है कि कण्ठ के विवृत होने पर श्वास और संवृत्त होने पर नाद की सृष्टि होती है, इस दृष्टि से श्वास तथा अनुप्रदान भेद से दो प्रकार के वर्ण-भेद होते हैं।[३] 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' ग्रन्थ के अनुसार 'वायु कण्ठस्थान को प्राप्त होकर श्वास और नाद को उत्पन्न करती है।'[४] जबकि अन्य 'प्रातिशाख्य-ग्रन्थों' के अनुसार फेफड़े से निकली हुई कायाग्नि प्राणवायु को प्रेरित करती है। वह प्राणवायु नाभि से उठती हुई मूर्धा से टकराती है पुनः उठती हुई वायु से टकराकर क, ख आदि ध्वनियों का रूप ग्रहण कर लेती है।[५]

शिक्षाकारों का मत : पाणिनीय शिक्षा के अनुसार 'जब किसी वस्तु को शब्द द्वारा कहने की इच्छा होती है तो प्रथमतः बुद्धि का मन के साथ संयोग होता है, मन कायाग्नि पर आघात करता है, कायाग्नि वायु को प्रेरित करती है, वायु उरःप्रदेश में विचरण करता हुआ मन्द स्वर उत्पन्न करता है और आगे बढ़ता है, पुनः कण्ठ स्थान में पहुँचकर मध्यम स्वर करता है और शीर्ष स्थान में पहुँचकर तार स्वर उत्पन्न करता

---

१. वाक्यपदीय, १/१०५।
२. शुक्लयुजः प्रातिशाख्य, १.६.७।
३. ऋग्वेद प्रातिशाख्य।
४. ऋग्वेद प्रातिशाख्य १३.१।
५. वृषभ, वा०प० १-११५ से उद्धृत।

है, फिर मूर्धा में टकराकर वह लौट आता है, तथा मुख में विशेष स्थानों से टकराकर विशेष-विशेष वर्णों को उत्पन्न करता है।'[१] 'आपिशलि शिक्षा' के अनुसार 'नाभिदेश से वायु ऊपर उठता हुआ हृदय, कण्ठ आदि स्थानों में किसी स्थान पर टकराता है, उससे शब्द की उत्पत्ति होती है।'

पतञ्जलि का मत : महाभाष्य में पतञ्जलि ने लिखा है कि 'ज्ञान ज्योति के समान होता है।[२] अर्थात् इनके मत में ज्ञान ही शब्द को प्राप्त होता है। कैयट ने इनका अभिप्राय स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'जैसे ज्वालारूपी ज्योति निरन्तर फैलती रहती है, सादृश्य के कारण उसे सब तद्‌रूप समझते हैं वह, अविच्छिन्न है, इसी प्रकार ज्ञान भी भिन्न है, परन्तु शब्दरूपता को प्राप्त होकर वह सतत (अविच्छिन्न) कहे जाते हैं। अतः वैयाकरण शब्द को ज्ञान का परिणाम मानते हैं।'

भर्तृहरि ने पतञ्जलि के इस अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि आन्तरज्ञाता सूक्ष्मवाक् के रूप में स्थित रहता है। वही अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए कायाग्रि के सहयोग से शब्दरूप में परिणत होता है।[३]

भर्तृहरि का मत : भर्तृहरि ने शब्द की उत्पत्ति के विषय में अपना मत प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि शब्द दो प्रकार का होता है—एक 'प्राण में अधिष्ठित' तथा दूसरा 'बुद्धि में अधिष्ठित'। उसका प्राण और बुद्धि में शक्ति ही कण्ठ आदि स्थानों से व्यक्त होकर क, ख आदि भेदों का कारण बनता है।[४]

स्फोटवाद के प्रवर्तक

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में 'अवङ् स्फोटायनस्य'[५] नामक सूत्र द्वारा आचार्य स्फोटायन के मत का निर्देश किया है। हेमचन्द्र ने काक्षीवान् को स्फोटायन का पर्याय या नामान्तर बताया है। 'गुरुपद हालदार' ने 'व्याकरण-दर्शनेर इतिहास' नामक बंग्ला भाषा के ग्रन्थ में कहा है कि कक्षीवत् पर्वत में ओशिज नामक किसी विद्वान् योगी वैयाकरण ने स्वकीय व्याकरण में शब्द के अर्थप्रकाशक स्वयं शक्ति विशेष का सम्यक् प्रपञ्च करके उसे स्फोट नाम दिया था। इसलिए इस नये नाम के कारण लोक में भी वे स्फोटायन के नाम से प्रसिद्ध हुए। हरदत्त ने काशिकावृत्ति की टीका 'पदमञ्जरी' में सम्भवतः उक्त प्रसिद्धि के आधार पर लिखा है 'स्फोटोऽयनं परायणं यस्य सः स्फोटायनः, स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्यः।'

---

१. वृषभ, वा०प० १-११५ से उद्‌धृत।
२. महाभाष्य १.४.२९।
३. वाक्यपदीय, १/११५, १/११३, १/११४, १/११५।
४. वाक्यपदीय, ११७।
५. वाक्यपदीय, ११७।

इस नाम से स्फोट पद सर्वप्रथम उपलब्ध होता है। हरदत्त ने 'अवङ्स्फोटायनस्य' सूत्र की व्याख्या में कहा है कि इनका नाम स्फोटायन इसलिए पड़ा ; क्योंकि स्फोट के सिद्धान्त का उन्होंने पारायण किया था।[१] नागेश ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए लिखा है कि 'स्फोटवाद स्फोटायन ऋषि का मत है अर्थात् इसका प्रारम्भ उन्होंने ही किया था।[२] परन्तु डॉ० रामसुरेश त्रिपाठी ने इसका खण्डन करते हुए लिखा है कि 'हरदत्त और नागेश ने स्फोट का सम्बन्ध स्फोटायन से जोड़ा है, किन्तु इस कल्पना के पीछे कोई प्रौढ़ आधार नहीं है।[३]

महाभारत के खिलांश, हरिवंश पुराण, श्रीमद्भावत और गर्गसंहिता में स्फोट का व्याकरणानुसारी प्रयोग मिलता है।

यथा— (१) **'अक्षराणाकारस्त्वं स्फोटस्त्वं वर्णसंश्रयः'।।**[४]

(२) (क) **'दिशां त्वमवकाशोऽसि दिशाः खं स्फोट आश्रयः'।**[५]

(ख) **'शृणोति य इमं स्फोटं सुप्तश्रोत्रे च शून्यदृक्।'**

(३) **'व्यङ्ग्येन वा न नहि लक्षणया कदापि;**
स्फोटेन[६] यच्च कवयो न विशन्ति मुख्याः।
निर्देशभावरहितं प्रकृतेः परं च
त्वां ब्रह्म निर्गुणमलं शरणं व्रजाम।।[७]

आचार्य औदुम्बरायण जो स्फोटायन से भी पूर्ववर्ती है तथा यास्क जो पाणिनि से पूर्ववर्ती हैं बुद्धिस्थ नित्य शब्द को मानते हैं; ये स्फोट की चर्चा नहीं करते। अतः इतना तो निर्विवाद एवं युक्तिसङ्गत ही है कि जब तक कोई अन्य विरोधी प्रमाण उपलब्ध न हो तब तक हरदत्त एवं नागेश का कथन मानना ही समीचीन होगा। जो कि गुरु परम्परा से सुरक्षित रहा होगा।

स्फोट के विषय में विभिन्न आचार्यों के विचार

आचार्य पाणिनि : पाणिनि ने अष्टाध्यायी में 'अवङ्स्फोटायनस्य' सूत्र द्वारा आचार्य स्फोटायन के मत का निर्देश किया है। पाणिनि के स्फोटवाद सम्बन्धी विचार को कात्यायन तथा पतञ्जलि ने 'सिद्धेः शब्दार्थसम्बन्धे' वार्तिक की व्याख्या में स्पष्ट

---

१. स्फोटपदमञ्जरी, ६.१.१२३।
२. स्फोटवाद, पृष्ठ १०२।
३. संस्कृत व्याकरण दर्शन, पृ० ४६०।
४. हरिवंश पुराण, अध्याय ८८।
५. (क) श्रीमद्भागवत ; १०/८५/९ (ख) श्रीमद्भागवदत ; १२/६/४०
६. यहाँ 'स्फोटेन' का तात्पर्य है—'अभिधा द्वारा' यही स्फोट का वास्तविक अर्थ है ; क्योंकि वाचकता उच्चरित-प्रध्वंसी वर्ण-समुदाय में नहीं हैं ; किन्तु उसके अधिष्ठान स्फोट में हैं।
७. गर्ग संहिता, गोलोकखण्ड, अ० ३।

करते हुए लिखा है कि 'पाणिनि स्फोट को नित्य मानते हैं।' अष्टाध्यायी के अधोलिखित सूत्रों द्वारा आचार्य के स्फोट सम्बन्धी मत का पता चलता है—'सर्वत्र विभाषा गोः'[१], 'अवङ् स्फोटायनस्य'[२], 'इन्द्रे च,'[३]। दीक्षित तथा काशिकाकार ने इन सूत्रों के उदाहरण दिए हैं—

गो अग्रम्। गोऽग्रम्। गवाग्रम। गवेन्द्रः। इनमें गोअग्रम तथा गोऽग्रम् उदाहरण द्वारा वर्णवादी व पदवादी आचार्यों के मतों का निर्देश मिलता है; तृतीय उदाहरण 'गवाग्रम्' वाक्यवादी स्फोटायन के मत को व्यक्त करता है तथा चतुर्थ उदाहरण 'गवेन्द्रः' स्वयं आचार्य पाणिनि के मत को व्यक्त करता है। इन उदाहरणों से पता चलता है कि पदवादी आचार्य वर्णों को अनर्थक मानकर पद को सार्थक मानते हैं। जबकि वाक्यवादी वर्ण तथा पद दोनों को अनर्थक मानते हैं। वे केवल वाक्य को ही सार्थक मानते हैं। अन्त में गवाग्रम्, गवेन्द्रः उदाहरणों द्वारा यह स्पष्ट किया है कि वस्तुतः वाक्य सार्थक होता है उसमें वर्णों तथा पदों का अर्थ नहीं है।[४] अर्थात् ओ अवङ् के बराबर है। अवङ् में तीन भाग है—ओ (अव्) अ, ङ्। 'ओ' स्फोट का प्रतीक है, अवङ् में भी स्फोट अर्थात् 'ओ' का अंश उतना ही रहता है। अ, ङ् ध्वनि का भाव प्रकट करता है। इनमें 'अ' प्राकृत ध्वनि का प्रतीक हैं, तथा 'ङ्' वैकृत ध्वनि का प्रतीक है।[५]

व्याडि :—व्याडि के 'संग्रह' ग्रन्थ में शब्द नित्य है या अनित्य इस विषय पर मुख्य रूप से विचार किया गया है, इसके अतिरिक्त पतञ्जलि ने भी व्याडि के संग्रह ग्रन्थ पर शब्दों की नित्यता तथा अनित्यता दोनों पक्षों के गुण-दोषों पर विवेचन करते हुए लिखा है कि 'यद्यपि शब्द स्फोटरूप से नित्य है, तथापि ध्वनिरूप से अनित्य है।' 'संग्रह' के कुछ श्लोकों में स्फोटवाद पर प्रकाश डाला गया है, जिसे हरिवृषभ की टीका में भी उद्‌धृत किया गया है। जिसका भाव इस प्रकार है—शब्द एक व अखण्ड है, शब्द और अर्थ में कोई भेद नहीं है इनमें मौलिक तत्त्व एक ही है तथा इनमें कोई विभाग नहीं है। उसकी विभागयुक्त प्रतीति क्रमयुक्त वर्णों से है जो बैखरी ध्वनिरूप में वर्णों से अर्थ का वाचक होता है, वह अर्थ ध्वनिरूप शब्दबुद्धि में शब्दतत्त्व के साथ-साथ तादात्म्य को प्राप्त होता है। स्फोट की उपलब्धि प्राकृत ध्वनि के द्वारा होती है। वैकृत ध्वनि द्रुत, विलम्बित आदि की स्थिति के भेद के कारण है। पदों का कोई निश्चित अर्थ नहीं होता, और न ही उनकी कोई सत्ता है केवल वाक्य ही सार्थक है, और उनकी सार्थकता से पदों की सार्थकता तथा सत्ता स्वीकार्य है।

---

१. अष्टाध्यायी ६/१/१२।
२. अष्टाध्यायी ६/१/१२।
३. अष्टाध्यायी ६/१/१२।
४. अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन, पृ० ३५१ से उद्‌धृत।
५. महाभाष्य आ० १।

पतञ्जलि :—पतञ्जलि ने वर्णादि ध्वन्यात्मक शब्द के आश्रय को स्फोट माना है। इन्होंने 'तपरस्तत्कालस्य'[१] सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में स्फोट एवं ध्वनि पर प्रकाश डाला है। उनका मानना है कि स्फोट ही शब्द है और ध्वनि उसका गुण। अर्थात् यह स्फोट को व्यञ्जित करता है, अर्थात् इन दोनों का व्यंग्य और व्यञ्जक सम्बन्ध है। स्फोट नित्य है उसमें अल्पता या महत्ता की स्थिति नहीं होती। पतञ्जलि का तात्पर्य है कि शब्द के दो स्वरूप हैं—प्रथम 'स्फोट' तथा द्वितीय 'ध्वनि'। शब्द नष्ट होता है, ऊँचा, नीचा आदि जो शब्द के व्यापार हैं, वे ध्वनि को शब्द मानकर होते हैं। इनमें ध्वनि ही अल्प या महान् होती है। जैसा कि स्फोट एवं ध्वनि विवेचन में उदाहरण रूप में स्पष्ट किया गया है—

एवं तर्हि स्फोटः शब्दः। ध्वनिः शब्दगुण। कथम्?
भेर्याघातवत्। यथा भेर्याघातः भेरीमाहत्य कश्चिद्विंशतिपदानि
गच्छति, कश्चित् त्रिंशत् कश्चित्चत्त्वारिंशत्, स्फोटस्तावाने-
वेध्वनिकृतावृद्धिः।[२]

अर्थात् भेरी बजाने पर भेरी का शब्द (ध्वनि) कोई २० गज जाता है, कोई ३० गज और कोई ४०। स्फोट शब्द उतना ही है। लघुता, वृद्धि, अल्पता या महत्ता यह ध्वनि के कारण ही होती है। हम जो शब्द बोलते हैं, वे वर्णात्मक होने के कारण ध्वनि के साथ स्फोट का भी बोध कराते हैं, अतएव अर्थज्ञान होता है। उपर्युक्त वक्तव्य में 'एवं तर्हि स्फोटः शब्दः' से पतञ्जलि का तात्पर्य है कि स्फोट द्वारा जो भाव हमें उपलब्ध होता है, उसका ग्रहण उन ध्वनियों से एक और अभिन्न रूप में होता है, अतः स्फोट ही शब्द है। शब्द की ध्वनियाँ कितनी ही दीर्घ या लम्बी हों, स्फोट सभी का समान क्षण वाला होता है। इसी प्रकार महाभाष्यकार का ध्वनि को शब्द का गुण कहने का तात्पर्य है कि ध्वनि शब्द (स्फोट) का व्यञ्जक है। श्लोकवार्तिकार के मत में भी 'स्फोट शब्द है और ध्वनि उसका विस्तार है।[३] शब्द के जो वाद में पैदा होती है वे ध्वनियाँ हैं, वे वर्ण-श्रुति को विभक्त करती हैं। वे शब्द के प्रतिविम्ब से युक्त सभी दिशाओं में विस्तार को प्राप्त करती हैं। नित्यपक्ष में 'शब्द' ध्वनि से व्यंग्य है। उस पक्ष में ध्वनि यथोत्तर अपचय प्राप्त होने वाली, अभिव्यक्ति में समर्थ, द्रुतादि में भेद व्यवस्था का कारण और अन्त में विनाशशील है।[४] भेरी दण्डाभिघात से उत्पन्न ध्वनि दूर तक सुनाई देती है, तथा लौहकंसाभिघात से उत्पन्न ध्वनि समीप तक ही सुनाई देती है। ध्वनि की इसी महत्ता तथा अल्पता से शब्द को

---

१. अष्टाध्यायी १.१.७०।
२. महाभाष्य १.१.७०।
३. श्लोकवार्तिक, वाक्यपदीय, हरिवृत्ति में उद्धृत १.२२।
४. वाक्यपदीय १.१०३।

लोक-व्यवहार में अल्प या महान् कहते हैं। शब्द (स्फोट) अल्प या महान् नहीं होता है। 'ध्वनि कार्यरूप और कारणरूप होती है, उत्तरोत्तर ध्वनियों का पूर्ववर्ती ध्वनियाँ कारण हैं, तथा पूर्ववर्ती ध्वनियों का उत्तरवर्ती ध्वनियाँ कार्य हैं।'

भर्तृहरि :—भर्तृहरि ने 'महाभाष्यदीपिका' में 'येनोच्चारितेन'—की व्याख्या में नित्य शब्द-सम्बन्धी तीन मतों का उल्लेख किया है। वे कहते हैं—अत्रानेकं दर्शनम्। केचिन्मन्यन्ते—

१. कुछ लोगों की मान्यता है कि 'जिस क्रमवान् शब्द का उच्चारण किया जाता है वह निचले स्तर का है उससे भिन्न कोई अक्रम शब्दरूप है, जो बुद्धि में व्यापक रूप में स्थित रहता है, उसी से अर्थ का ज्ञान होता है? अर्थात् जैसे अर्थान्तर का बोध करानेवाला शब्द उससे भिन्न अर्थ का बोधक नहीं होता, वैसे ही स्वरूपार्थात्मक शब्द अपने से भिन्न शब्दार्थ का बोध कराने में उद्यत नहीं होता।

यह मत स्फोट दर्शन से भी प्राचीन है, और सम्भवतः औदुम्बरायण, वार्ताक्षि और यास्क का यही मत है। भर्तृहरि दूसरे मत का उल्लेख करते हैं—

२. 'जैसे वर्णों में वर्ण के तुरीय (चौथाई) भाग परमाणु सदृश अवयवभेद विद्यमान होकर वर्ण-जाति को अभिव्यक्त करते हैं। उसी प्रकार विविध वाक्यों में विद्यमान पदों में ये स्थित क्रमजन्मा तथा अयुगपत्कालिक या उच्चरित प्रध्वंसी वर्ण पद-जाति को व्यक्त करता है। जैसे—वृक्ष शब्द वृक्षत्व (वृक्ष शब्दत्व) रूप जाति को व्यक्त करता है (यह जाति ही स्फोट है)।'

यह शब्दस्वरूपार्थ या जाति वर्ण, पद और वाक्य रूप स्फोट है और यही नित्य शब्दात्मा है। जो क्रमजन्मा एक साथ न रहनेवाली वर्ण-पदात्मक व्यक्तियाँ हैं, वे ध्वन्यात्मक हैं। यह स्फोटवादी वैयाकरणों को मत है।

भर्तृहरि ने 'नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः—[१] की वृत्ति में कहा है कि 'केचित्तु प्रतिवर्णं, प्रतिपदं, प्रतिवाक्यं चैक एवायं शब्दात्मा क्रमोत्पन्नावयवरूप प्रत्यवभासः प्रकाशत इति मन्यन्ते।' इस वृत्ति में 'केचित्' से निरवयवस्फोटवादियों का मत ग्रहण किया गया है। उनके मत में वर्ण भी परमाणु सदृश अवयवों के भेद से भिन्न होते हैं, उसी प्रकार वर्णरूप अवयवों के भेद से पद तथा पदरूप अवयवों के भेद से वाक्य भी भिन्न होते हैं। यह भेद वर्ण, पद और वाक्य स्फोटों में नहीं होता। वे निरवयव होते हैं। उन विभक्त ध्वनियों से क्रमहीन स्फोट की अभिव्यक्ति होती है। इसके अतिरिक्त

---

१. वाक्यपदीय १.२३।

भर्तृहरि 'न वर्णव्यतिरेकेण—'[१] की वृत्ति में कहते हैं 'वर्ण सावयव होते हैं और वे अवयव क्रमिक रूप से देखे जाते हैं। उनके चौथाई अंश का भी चौथाई अंशात्मक संज्ञानहीन रूप होता है, जो व्यवहार में नहीं आता।'

३. तीसरा मत है कि शब्द दो शक्तियों वाला होता है। यह आत्मप्रकाशन और अर्थप्रकाशन में भी समर्थ होता है। जैसे प्रदीप अपने को प्रकाशित करता हुआ निहित अर्थों को भी प्रकाशित करता है। जो आध्यात्मिक इन्द्रिय नामक प्रकाश है, वह अपने को प्रकाशित न करते हुये वाह्य अर्थ को प्रकाशित करता है, अतः 'उच्चारितेन' की यही उचित व्याख्या की जाती है।

●●●

---

१. वाक्यपदीय १.७१।

सप्तम अध्याय

महाभाष्य की पद एवं अर्थ सम्बन्धी दार्शनिक मान्यतायें

पद का स्वरूप

व्याकरणशास्त्र में तथा अन्यत्र भी पद के स्वरूप का रूपात्मक तथा अर्थात्मक दोनों दृष्टियों से विचार किया गया है। 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' में कहा गया है कि 'अक्षरों के समुदाय को पद कहते हैं।'[१] महाभाष्य के अनुसार विभक्त्यन्त शब्द ही पद होता है।[२] महर्षि पाणिनि सुबन्त और तिङन्त को पद कहते हैं।[३] ये सभी परिभाषायें रूपात्मक या रचनात्मक आधार पर प्रस्तुत की गई हैं।

वैयाकरणों का तर्क है कि विभक्तियुक्त शब्द को ही पद कहते हैं और विभक्ति कारक तथा क्रिया के सम्बन्ध के बिना नहीं आती। अतः पदों की सत्ता वाक्य में होती हैं। पदों का अर्थ वाक्यार्थ से ही उत्पन्न होता है।[४]

भर्तृहरि का मत है कि शास्त्रों में प्रक्रियाओं द्वारा अविद्या का ही वर्णन होता है जिसके माध्यम से विकल्पहीन विद्या का स्वयं वर्णन हो जाता है।[५]

कुमारिल के अनुयायी मीमांसक पदों का अर्थ ही वाच्य मानते हैं और पदार्थों के अन्वय से निष्पन्न वाक्यार्थ को लाक्षणिक स्वीकार करते हैं। वहीं दूसरी ओर कौण्डभट्ट के अनुसार वाक्य ही मूल शब्द है, वाक्यों में एक जैसी वर्णाकृतियाँ देखकर पदों की कल्पना की जाती है और फिर उनके साथ अर्थ का योग मान लिया जाता है, परम्परा-पुष्ट होकर यह विकल्प बुद्धि और पदार्थ को ही सत्य मान लेती है।[६] दूसरी ओर नागेशभट्ट ने कहा है कि शास्त्रों में नाना पक्ष कल्पित हैं जिनमें पदार्थ-संसर्ग को वाक्यार्थ मानने वाले अभिहितान्वयवादी कुमारिल तथा अन्वित पदार्थों को ही वाक्यार्थ मानने वाले अन्विताभिधानवादी प्रभाकर मुख्य हैं। यह वैसा

---

१. 'अक्षरसमुदायः पदम्' वाजसनेयि-प्रातिशाख्य
२. विभक्त्यन्तं पदम्। महाभाष्य १.२.६४।
३. सुप्तिङन्तं पदम्। अष्टाध्यायी १.४.१४।
४. लघुमंजूषा, पृष्ठ ८९ पर।
५. वाक्यपदीय, २/४१०
६. वैयाकरण भूषण सार, ६७।

ही है जैसे वैशेषिक घट के गुणों से पृथक् अवयवी मानता है तथा सांख्य उसे गुण-समूह से पृथक् घट की सत्ता नहीं मानता। उसी प्रकार वाक्यार्थ और पदार्थ को लेकर भी मतभेद है।

शब्द से अर्थ का अभेद मूलतः वाक्य और वाक्यार्थ का अभेद है। वाक्य से पृथक् शब्द के प्रयोग की कल्पना भी नहीं हो सकती। यह बुद्धि की विचित्रता है कि पदों और पदार्थों का प्रत्यवभास सत्य दिखता है। यह वैसा ही है जैसा कि शिक्षितजन पदों की निष्पत्ति वर्णों से मानते हैं जबकि वर्ण केवल कल्पित हैं। अतः व्याडि के अनुसार—

न हि किञ्चित् पदं नाम रूपेण नियतं क्वचित्।
पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थादेव जायते॥[1]

वाक्यपदीय का भाव भी इसी कारिका के माध्यम से ऊपर व्याख्यायित हो चुका है। सङ्ग्रहकार व्याडि यह भी कहते हैं कि अर्थ से पद सार्थक होते हैं, पद से वाक्यार्थ का निर्णय होता है और पद वर्ण-सङ्घात से उत्पन्न होता है।

अर्थात्—

पदे साभिधेयं पदाद् वाक्यार्थनिर्णयः।
पदसंघातजं वाक्यं वर्णसंघातजं पदम्॥[2]

यह कारिका शौनक के 'बृहद्देवता' नामक ग्रन्थ में भी प्राप्त होती है। इससे स्पष्ट है कि पद और वाक्य के पारमार्थिक स्वरूप को लेकर प्राचीनकाल में मतभेद रहा है। निरुक्त का मत पदार्थवादी रहा है जबकि व्याकरण का मत वाक्यार्थवादी है। महाभाष्यकार ने कहा है कि जब एक तिल तेल देने में समर्थ है तभी उसकी राशि भी तेल देती है। तात्पर्य यह है कि संघात के अर्थवान् होने से यह तथ्य अनुमानगम्य है कि पदसंघातवर्ती वर्ण भी सार्थक है।[3]

यह पूर्वपक्ष स्थापित करके यह सिद्धान्तित किया गया कि वर्ण अनर्थक ही होते हैं। संघात्मक पद के सार्थक होने पर भी प्रत्येक वर्ण में अर्थ की उपलब्धि नहीं होती। अतः वर्ण अनर्थक है। वर्ण संघातरूप पद ही सार्थक हैं।[4] इसी तथ्य को भर्तृहरि ने इस प्रकार उपसंहृत किया है—

न कूपसूपयूपानामन्वयोऽर्थस्य दृश्यते।
अतोऽर्थान्तरवाचित्वं संघातस्यैव गम्यते॥[5]

---

१. वाक्यपदीय, पुण्यराज की टीका, २/३/९।
२. वाक्यपदीय, पुण्यराज की टीका, २/३१८।
३. महाभाष्य, १/१/२ माहेश्वर सूत्र, ५ वार्तिक ४।
४. महाभाष्य, माहेश्वर सूत्र, ५ वार्तिक ४।
५. वाक्यपदीय, २/१/६९।

अर्थात् कूप, सूप, यूप में अर्थ का अन्वय 'ककार', 'सकार', और 'यकार' में नहीं देखा जाता है, अतः सम्पूर्ण संघात ही अर्थान्तरवाची है। तात्पर्य यह है कि वर्ण की सार्थकता से पद सार्थक नहीं है, प्रत्युत् पद में अद्वैतभावापन्न होकर ही संघात रूप में सार्थकता आती है। इन पदों के नाम में भिन्नता देश, काल एवं व्यक्ति के भेद से एवं पृथक्-पृथक् अवसरों पर दिखलाई पड़ती है। अतः सार्थकता उनकी जाति में होती है। यही व्याकरण-सम्मत मार्ग है।

पदजाति किसी पद की आनुपूर्वी होती है जो वर्णक्रम में घटित हुआ करती है। यह वर्णक्रम उच्चार्यमाण पदों में सम्भव नहीं है, क्योंकि उच्चरित वर्ण में एक वर्ण के नष्ट होने के बाद दूसरा वर्ण जन्म लेता है। अतः स्फोटरूपी पदजाति बुद्धिस्थ होकर अर्थजाति के साथ अभेद सम्बन्ध स्थापित करती है। यही पदार्थ-बोध की प्रक्रिया है।

इस पर यह आक्षेप किया जाता है कि पाणिनि तो आदेश, आगम, लोप आदि की व्यवस्था वर्णों के स्थान पर करते हैं; फलतः शब्द का शब्दान्तर हो जाता है और स्फोटवर्ण भी अनित्य सिद्ध होता है।

इस आक्षेप का उत्तर देते हुए भाष्यकार ने कहा है कि अशास्त्रीय शब्द के स्थान पर पूरे शास्त्रीय शब्द का आदेश मान्य है। अतः पद की अखण्डता बनी रहती है। यदि पद घटकवर्ण का विकार मान लिया जाय तो स्फोट शब्द का भी नित्यत्व खण्डित हो जायेगा।[१] पद और अर्थ में अभेद रहता है, अतः एक वर्णपद आदि कहा जाता है; क्योंकि अर्थ को ही पद कहते हैं।[२] इस तथ्य को भर्तृहरि ने इस प्रकार कहा है—

अर्थजात्यभिधानेऽपि सर्वे जात्यभिधायिनः।
व्यापारलक्षणा यस्मात् पदार्थाः समवस्थिताः॥[३]

अर्थात् सभी पद 'अर्थ' जाति के वाचक होते हैं और उन पदों के अर्थ व्यापारों में सूचित होते हैं। यहाँ दो प्रकार की जातियाँ मान्य हैं—प्रथम अर्थजाति और द्वितीय पदजाति। दोनों गोत्व, अश्वत्व आदि हैं अर्थात् गोपिण्ड की जाति भी गोत्व है जो आकृति में व्यंग्य है और गोत्व पदजाति वर्णानुपूर्वी से व्यंग्य है। जिस प्रकार दीपक पहले अपने को प्रकाशित करता है और फिर पदार्थों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार पदों की जाति पहले अभिहित होती है और तब अर्थजातियों में उसके अध्यारोप की कल्पना की जाती है।[४]

---

१. सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः। एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते। महाभाष्य, पा०सू०, १/१/२०, वार्तिक ५।
२. महाभाष्य, पा०सू०, १/२/२।
३. वाक्यपदीय, ३/१/११।
४. स्वजातिः प्रथमं शब्दैः सर्वैरेवाभिधीयते।
ततोऽर्थजातिरूपेषु तदध्यारोपकल्पना॥ वाक्यपदीय, ३/१/६

पदार्थ का स्वरूप

पद-स्वरूप पर विचार करते हुए महाभाष्यकार ने लिखा है कि पद का प्रयोग सत्तापेक्ष ही होता है, अर्थात् शब्द की प्रवृत्ति में अर्थ की सत्ता ही मूल कारण है।[१] इसलिए शब्द के आधार पर पदार्थ पर विचार करना आवश्यक है। न्यासकार ने लिखा है कि 'यास्क तथा शाकटायान' 'त्रयीशब्दप्रवृत्ति' मानते हैं। तथा अन्य सभी विद्वान् केवल क्रिया शब्द ही मानते हैं क्योंकि सभी पद आख्यातज हैं, अतः सभी शब्दों की प्रवृत्ति केवल क्रिया शब्द के रूप में ही हो जाती है।[२]

पतञ्जलि जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द, यदृच्छाशब्द के स्थान पर यदृच्छा शब्दों का खण्डन कर त्रयी शब्द प्रवृत्ति का सिद्धान्त मानते हैं।[३] कुछ विद्वानों का मानना है कि गुण, क्रिया तथा द्रव्य शब्द भी जाति ही हैं।[४] कैयटने भी पतञ्जलि के 'त्रयी-शब्द-प्रवृत्तिः' वाले भाव का समर्थन करते हुए लिखा है कि प्रशस्यरूप क्रिया और गुण के अध्यारोप से त्रयी पक्ष मानने पर भी काम चल सकता है।[५] इनके मतानुसार आचार्य पाणिनि के जो जाति, गुण तथा क्रियापरक सूत्र हैं इनमें यदृच्छा की मान्यता का आधर 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' है।[६] जिससे प्रतीत होता है कि पाणिनि अव्युत्पन्न यदृच्छा शब्दों को स्वीकार करते थे।[७]

प्रभाकर गुरु आदि मीमांसक 'सादृश्य' को भी एक अतिरिक्त पदार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं। नागेश ने भी सादृश्य पदार्थ की सत्ता का प्रतिपादन किया है।[८] बौद्ध विद्वान् कर्णगोमिन् ने द्रव्य के स्थान पर सम्बन्ध को माना है।[९] कुछ लोग अभाव को भी एक पृथक् पदार्थ मानते हैं परन्तु व्याकरणदर्शन में इसे गुण के अन्तर्गत माना जाता है अथवा द्रव्य, जाति, क्रिया के अतिरिक्त सभी पदार्थ गुण में अन्तर्भूत माने गये हैं।[१०]

'तत्त्वबोधिनी' टीकाकार 'ज्ञानेन्द्र सरस्वती' का भी ऐसा ही मत है।[११] भर्तृहरि ने शक्ति या प्रतिभा के पर्याय के रूप में एक ही पदार्थ को माना है। तथा इसी के रूपान्तर के रूप में आठ पदार्थों का उल्लेख किया है।[१२]

---

१. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य।
२. न्यास० ३/३/१।, पृष्ठ ६७४।
३. महाभाष्य आ० २ ऋलृक्।
४. काव्यप्रकाश २/१०।
५. प्रदीप महाभाष्य आ० २, ऋलृक्।
६. अष्टाध्यायी १/२/४५।
७. अर्थवत्सूत्रारम्भ्यामर्थ्याच्च अव्युत्पन्ना शब्दाः सन्तीत्यवगम्यते। प्रदीप आ० २, ऋ लृ क्।
८. सादृश्यमतिरिक्तपदार्थ इति मतेनेदम्। उद्योत, महा० २.१.५५।
९. प्रमाणवार्तिक टीका, पृष्ठ १४१।
१०. कुवलयानंदटीका, पृष्ठ ४८।
११. तत्त्वबोधिनी
१२. वाक्यपदीय, ३, दिक् समु० १।

पूर्वलिखित सभी मतों को पतञ्जलि के विपरीत देखकर मुकुलभट्ट ने इसका निराकरण करते हुए लिखा है कि गुणशब्द तथा क्रियाशब्द को जातिशब्द के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता ; क्योंकि पयः, शंख, बलाका आदि का शुक्लगुण परमार्थतः भिन्न नहीं है, अपितु आश्रयभेद से उनमें भिन्नता प्रतीत होती है। वस्तुतः शुक्ल गुण एक ही है। शुक्ल व्यक्ति के एक ही में रहने के कारण अनेक में 'समवाय सम्बन्ध' से रहने वाली जाति का लक्षण गुण शब्दों में घटित नहीं हो सकता। इसी प्रकार क्रिया शब्द भी आश्रयभेद से भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, वस्तुतः वह एक ही है। अतः केवल जाति को शब्द न मानकर पतञ्जलि द्वारा निर्दिष्ट त्रयीपक्ष ही मानना चाहिए।[१] अतः इस विवेचन से स्पष्ट है कि 'उभयथा गोणिका पुत्रः' की शैली के आधार पर पतञ्जलि को 'चतुष्टयी-शब्द प्रवृत्तिः' तथा 'त्रयी शब्दप्रवृत्तिः' दोनों ही पक्ष मान्य हैं, अतएव परवर्ती व्याख्याकारों ने दोनों पक्षों का अनुसरण किया है।

पदार्थ विषयक अन्य आचार्यों के मत

पाणिनि ने जाति तथा व्यक्ति दोनों को पदार्थ मानकर 'जात्याख्यायामेकस्मिन्, बहुवचनमन्यतरस्याम्' तथा 'सरूपाणामेकशेषएकविभक्तौ' सूत्रों का निर्माण किया है।[२] कैयट ने महाभाष्यकार के इसी भाव को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जाति तथा व्यक्ति दोनों में से एक को मानने से सम्पूर्ण व्याकरणशास्त्र की व्यवस्था सम्भव नहीं है, इसीलिए पाणिनि ने दोनों पक्षों का आश्रय लिया है।

जातिवादियों के अनुसार 'गो' शब्द अपनी सम्पूर्ण गोत्व जाति का बोध कराता है। गो शब्द से जब गो आदि का बोध होता है तब 'जाति विशिष्ट' व्यक्ति का बोध होता है। अतः इससे पता चलता है कि गो शब्द गोत्व जाति का ही प्रतिपादन करता है व्यक्ति का नहीं ; क्योंकि व्यक्ति अनन्त हैं प्रत्येक के सम्बन्ध का ग्रहण असम्भव है। सभी व्यक्तियों को देखने से एक प्रकार का ज्ञान होता है जिससे सिद्ध होता है कि जाति कोई सत्ता है जो विभिन्न व्यक्तियों में रहा करती है। 'गो शब्द' विभिन्न द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली जाति का बोध कराता है। जिस प्रकार जातिवाचक शब्द 'जाति' का बोध कराकर जाति-विशिष्ट व्यक्ति का बोध कराता है, उसी प्रकार गुणवाची शुक्ल आदि शब्द भी गुणों में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाली जाति का बोध कराता है। द्रव्य में गुण का ज्ञान परम्परा से होता है। गुण द्रव्य में रहता है अतः गुण का ज्ञान होने पर गुण से सम्बद्ध द्रव्य का ज्ञान होता है। संज्ञावाचक शब्दों के द्वारा भी जाति का बोध होता है। एक ही शरीर उत्पत्ति से लेकर मृत्यु तक बाल्य, यौवन, वृद्धत्व आदि अवस्थाओं के भेद होने पर भी यह वही है,

---

१. अभिधामातृका, पृष्ठ - ५।

२. किं पुनराकृति पदार्थः आहोस्विद् द्रव्यम्? उभयमित्याह उभयथा ह्याचार्येण सूत्राणि पठितानि इत्यादि। महा० आ० १।

इस अभिन्नता के ज्ञान से डित्थत्व, देवदत्तत्व आदि जाति का बोधक होता है। इसी प्रकार पठति, पठतः, पठन्ति आदि क्रियापदों में भी 'पठ्' धातु को देखकर क्रियाओं में भी जाति का ज्ञान होता है।

जातिवादियों के विपरीत व्यक्तिवादियों का मत है कि व्यक्ति में जाति रहा करती है अतः गौ शब्द के अर्थ गो आदि व्यक्ति हैं। इसीलिए गौण रूप से जाति का भी ज्ञान होता है। अतः अनन्तता आदि जो दोष व्यक्ति पर उठाये जाते हैं वे युक्तिसंगत नहीं हैं।[१]

वाजप्यायन ने अपने पदार्थ विषयक मन्तव्य को प्रस्तुत करते हुए जाति को पदार्थ माना है। जिसे पतञ्जलि ने इस प्रकार स्पष्ट किया है शब्द का अर्थ जाति है, अतः गो पशु विशेष का नाम लेते ही गो में रहने वाले शुक्लपीतादि विशेष्यता का ज्ञान न होकर भी सामान्य का ही सर्वप्रथम ज्ञान होता है। अतः खुर, विषाण, पूँछ वाले पशु विशेष को गो कहते हैं, जब इस प्रकार का ज्ञान हो जाता है तब अन्य देशस्थ भिन्न रंग-रूप वाली गाय को देखकर व्यक्ति जान लेता है कि वह गौ है।[२]

जिससे स्पष्ट है कि गो कहने मात्र से ही सम्पूर्ण गोत्व जाति का बोध होता है। इसे अन्य प्रकार से समझा जा सकता है एक ही वस्तु एक ही समय में अनेक स्थलों पर उपलब्ध होती है।[३] जैसे इन्द्र एक होते हुए भी एक काल में अनेक यज्ञों में आह्वान होने पर सभी स्थलों में उपस्थित होता है।[४] इसी प्रकार जाति भी अनेकस्थलों में एक ही समय में प्राप्त होती है।

धर्मशास्त्र में भी जाति को ही पदार्थ माना गया है, उदाहरणार्थ 'ब्राह्मण-ग्रन्थों' में कहा गया है कि ब्राह्मण का वध नहीं करना चाहिए, सुरा नहीं पीनी चाहिए। इन वाक्यों में ब्राह्मण मात्र की हत्या को वर्जित किया गया है तथा मदिरा पीने का निषेध किया गया है।[५] यदि द्रव्य को पदार्थ मानेंगे तो एक ब्राह्मण की हत्या न करने और कुछ मदिरा न पीने से धर्मशास्त्र की आज्ञा पूर्ण माननी चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता, अतः जाति ही पदार्थ है यही मानना उचित है। यदि द्रव्य का पद से बोध होगा तो एक शब्द से समस्त द्रव्यों का ज्ञान नहीं होगा।[६] शास्त्रीय आदेशों में एक शब्द की उसकी उपाधियों में प्रवृत्ति से ज्ञान होता है कि पद का अर्थ जाति है, व्यक्ति नहीं।[७]

---

१. प्रदीप महाभाष्य आ० १।
२. ज्ञायते चैकोपदिष्टम्। महा० वा० १/२/६४।
३. अस्तिचैक्रेकाधिकरणस्थं युगपत्। महा० वा० १/२/६४।
४. इतीन्द्रवद् विषयः। महा० वा० १/२/६८।
५. धर्मज्ञशास्त्र च तथा। महा० वा० १/२/६४।
६. द्रव्याभिधानं ह्यकृत्यसंप्रत्ययः। महा० वा० १/२/६८।
७. वादेनायां वैकस्योपधिवृते। महा० वा० १/२/६४।

पतञ्जलि ने व्याडि के 'व्यक्ति-पदार्थ' विषयक मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि व्याडि पद या शब्द का अर्थ व्यक्ति मानते हैं, जाति नहीं।[१] अतः व्यक्ति को पदार्थ मान लिया जाय तो व्यक्ति के अनुसार लिंग होगा, जितने व्यक्ति होंगे उसी के अनुसार वचन होंगे।[२] किन्तु यदि अन्य आचार्यों के समान शब्द का अर्थ जाति मान लिया जाय तो एक गो के मरने पर सभी गौओं को मर जाना चाहिए तथा एक के उत्पन्न होने पर सभी गौओं को उत्पन्न हो जाना चाहिए, जबकि ऐसा नहीं होता है।[३] प्रत्येक में विभिन्नता होती है, शब्दार्थ जाति होने पर यह भिन्नता तथा अभिन्नता दो विरोधी गुण एक-साथ नहीं रह सकते।[४] अतः इसी विभिन्नता को ध्यान में रखकर ही विग्रह किया जाता है 'गौश्च गौश्च' अर्थात् (गायें और गाय)[५]। अनेक अर्थ वाले शब्दों में द्रव्य की पृथकता को मानकर एक शेष करके बहुचन हो जाता है। अक्षाः, पादाः, माशाः[६]। व्याडि के अनुसार व्यक्ति (द्रव्य) को पदार्थ मानने पर विभिन्न लिंगों तथा वचनों की सिद्धि सम्भव है। अर्थात् व्यक्ति के अनुसार ही लिंग तथा वचन होंगे।[७] 'गाय लाओ' इस प्रकार का आदेशात्मक वाक्य कहने पर व्यक्ति अर्थात् पशु-विशेष लाया जाता है पूरी जाति नहीं लाई जाती।[८] इसी प्रकार एक जाति में एक समय में अनेकत्व विद्यमान नहीं रह सकती, जैसे एक देवदत्त एक ही समय में काशी तथा मथुरा आदि स्थानों पर एक साथ नहीं रह सकता। आचार्य कात्यायन तथा पतञ्जलि दोनों ही जाति तथा व्यक्ति को पदार्थ मानते हैं। कात्यायन के अनुसार जाति पद से जाति के साथ-साथ द्रव्य का भी बोध होता है। महाभाष्यकार ने इसी अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जातिवाचक शब्द द्रव्य का भी बोधक होता है।[९]

गौओं के बहुत बड़े समूह में बैठे ग्वालों से कोई पूछता है कि किसी गाय को देख रहे हो? ग्वाला विचार करता है कि मुझे तथा गायों को देखते हुए भी पूछ रहा है कि किसी गाय को देख रहे हो? अतः इस प्रकार के प्रश्न के विषय में यही होता है कि यह किसी पशुविशेष के बारे में प्रश्न कर रहा है। अतः जब द्रव्य की विवक्षा का अभिधान होता है तो बहुवचन होगा। जब सामान्याभिधान होगा तो एकवचन होगा।[१०]

---

१. द्रव्याभिधानं व्याडिः। महा० वा० १/२/६४।
२. तथा च लिंगवचन सिद्धिः। महा० वा० १/२/६४।
३. विनाशे प्रादुर्भावे च तत्सर्वं स्यात्। महा० वा० १/२/६४।
४. अस्ति च वैरूप्यम्। महा० वा० १/२/६४।
५. तथा च विग्रहः। महा० वा० १/२/६४।
६. व्यर्थेषु मुक्तसंशयम्। महा० वा० १/२/६४।
७. तथा च लिंगवचनसिद्धिः। महा० वा० १/२/६४।
८. चोदनासु च तस्यारम्भात्। महा० वा० १/२/६४।
९. जातिशब्देन द्रव्यमप्यभिधीयते जातिरपि-इत्यादि, महा० वा० १/२/६४।
१०. महाभाष्य १/१/५८।

कैयट के अनुसार कभी जाति की प्रधानता होगी, कभी द्रव्य की। वक्ता को जिस समय जो अभीष्ट होगा उस समय वैसा ही प्रयोग होगा।[१] नागेश ने भी इन्हीं के मत का समर्थन किया है तथा कहा है कि जाति या व्यक्ति में कौन मुख्यरूपेण विवक्षित है, यह वक्ता की इच्छा पर ही निर्भर करता है। पतञ्जलि व्यक्ति को पदार्थ मानते हुए भी जाति पदार्थ की प्रधानता देते हैं। जिसका सम्यक् विवेचन महाभाष्य में मिलता है। जिसमें उन्होंने जाति की अनेक परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। उनके अनुसार जाति का लक्षण है 'जिसका जनन होता है वह जाति है।' 'जाति वह है जिसका बोध आकृति के आधार पर होता है अर्थात् जाति अवयव-सन्निवेश विशेष से अभिव्यक्त होती है।' जाति उपदेश बोध्य लिंग से भी अभिव्यक्त होती है, जैसे ब्राह्मणत्व। ब्राह्मणत्व जाति गोत्व के समान अवयव संस्थान पर आश्रित नहीं हैं किन्तु विशेष चिह्नों द्वारा बताये गये लक्षणों को देखकर ब्राह्मणत्व का परिज्ञान होता है। ब्राह्मणत्व जाति आरोपित धर्म है, गोत्व के समान स्वाभाविक नहीं है। पतञ्जलि का तृतीय जातिलक्षण आविर्भाव से सम्बन्धित है। वस्तु के आविर्भाव तथा विनाश से जिसका आविर्भाव तथा तिरोभाव होता है, वह जाति है।[२] जब तक द्रव्य है तब तक जाति है। निर्गुण द्रव्य की उपलब्धि नहीं होती। जाति अनेक विषयों में व्याप्त रहती है; तथा असर्वलिंग है।

पतञ्जलि का जातिसम्बन्धी चतुर्थ लक्षण इस प्रकार है 'भिन्न से अभिन्न, छिन्न से अछिन्न, सामान्य रूप जो होता है वह जाति होती है।'[३]

पतञ्जलि के जाति के उपर्युक्त सभी लक्षणों से स्पष्ट है कि ब्राह्मणत्व, घटत्व आदि साधारण धर्म हैं, जबकि आकृति तथा जाति में अन्तर इतना है कि आकृति का सम्बन्ध सदा अवयवसंस्थान से होता है, परन्तु जाति अवयवसंस्थाननिरपेक्ष भी हो सकती है।

आचार्य कात्यायन द्वारा वर्णित जाति पदार्थ तथा द्रव्य पदार्थ में जो विभिन्नता होती है उसका समाधान करते हुए पतञ्जलि ने कहा है कि ऐसा नहीं है कि जाति को पदार्थ मानने वाले विद्वान् व्यक्ति को पदार्थ नहीं मानते। इन दोनों में अन्तर मात्र इतना ही है कि कोई किसी को मुख्य मानता है अन्य को गौण। जैसे व्यक्ति को पदार्थ मानने वाले व्यक्ति को पदार्थ मानते हैं और जाति को गौण।[४]

इन दोनों मतों पर जो भी आक्षेप प्रस्तुत किये गये हैं, उनका समाधान महाभाष्य में हुआ है तथा आकृति पक्ष को ही मुख्य माना गया है।

---

१. प्रदीप महाभाष्य १/२/५८।

२. प्रादुर्भावविनाशाभ्यां सत्वस्य युगपद्गुणेः।
असर्वलिंगा बह्वर्था तां जातिः कवयोः विदु॥ महा० ४/१/६३।

३. यत्तर्हि तद् भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेस्वछिन्नं सामान्यभूतं स शब्दः? नेत्याह आकृतिर्नाम सा। महा० आ० १।

४. न ह्याकृतिः पदार्थकस्य द्रव्यं न पदार्थो द्रव्यपदार्थकस्य वा आकृतिनं पदार्थः। उभयोरूभयं पदार्थ। कस्यचित्तु किंचित् प्रधानभूतं किंचिद् गुणभूतम् द्रव्यपदार्थकस्य द्रव्यं प्रधानभूतं आकृतिर्गुणभूता। आकृतिः पदार्थःकस्याकृतिः प्रधानभूता द्रव्य गुणभूतम्। महा० १/२/६४।

आचार्य व्याडि ने आकृतिपक्ष (जाति पक्ष) पर जो भी आक्षेप आरोपित किया है, उसका समाधान पतञ्जलि ने इस प्रकार दिया है,[१] 'गुण अनित्य है, अतः लिंग और वचन तदनुसार हो जायेंगे।

किन्तु यह समाधान त्रुटिपूर्ण या अपूर्ण है क्योंकि यदि वचन को अनित्य मानेंगे तो जाति की एकता, जो कि सिद्धान्त है, नष्ट हो जायेगी।' अतः ये द्वितीय समाधान देते हैं कि गुण-विवक्षा अनित्य है, अतः लिंग वचन हो जायेंगे। जब शब्द में स्त्रीत्व की विवक्षा होगी तब स्त्रीलिंग होगा तथा जब पुंस्त्व की विवक्षा होगी तब पुल्लिंग होगा। यदि दोनों की विवक्षा होगी तब नपुंसकलिंग होगा। महाभाष्यकार ने लिखा है कि जाति में 'लाना' आदि सम्भव नहीं है, अतः जाति के साहचर्य वाले व्यक्ति का 'लाना' आदि होगा अतः ऐसे स्थलों में व्यक्ति में ही सर्वत्र कार्य किया जायेगा।[२] एक जाति एक समय में अनेक स्थानों पर नहीं रह सकती, इसका समाधान महाभाष्यकार ने किया है कि इन्द्र के समान जाति भी एक ही समय में अनेकत्र रह सकती है।[३] तथा द्रव्य के नाश तथा जन्म से जाति का नाश या जन्म नहीं होता ; क्योंकि जाति की आत्मा तथा व्यक्ति की आत्मा भिन्न है।

जिस प्रकार वृक्ष के ऊपर चढ़ी हुई लता वृक्ष के कट जाने पर भी नष्ट नहीं होती है, उसी प्रकार आत्मा की भिन्नता के कारण द्रव्य के नष्ट होने पर भी जाति नष्ट नहीं होती है।[४] द्रव्य में विरूपता तथा भिन्नता रहती है इसका समाधान करते हैं कि जिस प्रकार आकृति मानने पर भी द्रव्य के भेद से विरूपता तथा विग्रह होते हैं;[५] उसी प्रकार नानार्थकों में क्रिया की समानता या संख्या की समानता के कारण जाति का बोध होगा।[६]

भर्तृहरि ने भी जाति तथा व्यक्ति दोनों को पदार्थ मानकर अपने मत का प्रतिपादन किया है। इनके मतानुसार व्यक्ति को पदार्थ मानने वाले व्यक्ति में कार्य की सत्ता मानकर व्यक्ति में रहने वाली जाति को स्वीकार करते हैं, तथा जातिवादी शब्द के द्वारा जाति का ग्रहण करके जाति के द्वारा बोधित व्यक्ति की सत्ता स्वीकार करते हैं।[७] समस्त शब्दों की अर्थ जाति या द्रव्य है। दोनों ही नित्य हैं।[८]

---

१. आकृतिर्गुणभूता। आकृतिपदार्थ कस्याकृतिः प्रधानभूता द्रव्यगुणभूतम्। महाभाष्य १/२/६४।
२. अधिकरण गति साहचर्यात्। महा० १.२.६४।
३. इतीन्द्रविषयः। महा० १.२.६४।
४. अविनाशोऽनाश्रितत्त्वात् अविनाशोऽनेकात्स्यात् अनेकआत्मआकृतेर्द्रव्यस्य च। महा० १/२/६४।
५. वैरूप्यविग्रहो सामान्यतासिद्धम्। महा० १/१/६४।
६. व्यर्थेषु सामान्यात् सिद्धम्। महा० १/२/६४।
७. वाक्यपदीय १/६८, वही १/६९।

षोढा प्रातिपदिकार्थ विचार :— पूर्व प्रसंग में विभिन्न वैयाकरणों के पदार्थ विषयक मन्तव्य को प्रस्तुत किया गया है। अब 'षोढ़ा प्रातिपदिकार्य:' सम्बन्धी वैयाकरणों की मान्यता की समीक्षा की जायेगी। इस विषय में इतना ध्यातव्य है कि वैयाकरणों ने प्रातिपदिकार्थ के लिए 'नामार्थ', मीमांसकों ने 'पदार्थ' तथा महाभाष्यकार ने भी 'पदार्थ' पद का प्रयोग किया है।

पाणिनि का मत :— आचार्य पाणिनि लिंग तथा वचन को प्रातिपदिकार्थ के अन्तर्गत नहीं मानते। इनके मतानुसार यदि लिंग तथा संख्या प्रातिपदिकार्थ होते तो प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा के विधान से कार्य चल जाता तब लिंग तथा वचन का सूत्र में पृथक् परिगणन करने की आवश्यकता नहीं थी।[१] परन्तु उन्होंने इन्हें सूत्र में परिगणित किया है जिससे स्पष्ट है कि वे लिंग तथा संख्या को प्रातिपदिकार्थ नहीं मानते।[२]

पाणिनि ने स्त्रीत्व बोध के लिए स्त्रीत्व वाचक प्रत्ययों का विधान किया है। कुछ विद्वानों के अनुसार ये प्रत्यय स्त्रीत्व का बोध कराते हैं, किन्तु पाणिनि के 'स्त्रियाम्'[३] सूत्र से इसकी पुष्टि नहीं होती। इसी कारण काशिका में इस सूत्रके दो अर्थों का प्रतिपादन किया गया है।[४]

नैयायिक मत :— नैयायिक भी लिंग, संख्या तथा कारक को प्रातिपदिकार्थ न मानकर प्रत्ययों का अर्थ मानते हैं।[५] इनके मतानुसार प्रकृति अर्थात् नाम या प्रातिपदिक केवल द्रव्य या जाति के ही बोधक हैं; लिंग, संख्या, कारक का बोध प्रत्यय से ही होता है। दधि आदि प्रयोगों में जहाँ प्रत्यय का श्रवण नहीं होता वहाँ भी लुप्तप्रत्यय के स्मरण से ही लिंग, संख्या और कारक का बोध होता है। तट, नदी, तटम् इस उदाहरण में तटी में स्त्रीत्वरूप अतिरिक्त धर्म का बोध स्त्रीत्ववाची 'ई' प्रत्यय से होता है, जबकि तट में तटत्व के अतिरिक्त अन्य धर्म का बोध नहीं होता। स्त्रीत्व रूप आकारान्त शब्दों में स्त्रीत्व का बोध 'आ' से होता है।

कौण्डभट्ट का मत :— कौण्डभट्ट के अनुसार जाति, व्यक्ति, लिंग, संख्या, कारक तथा स्वार्थ इन सभी का पदार्थरूप में वर्णन शास्त्रों में उपलब्ध होता है।[६] इनमें से जाति, व्यक्ति तथा पदार्थ पर पूर्व में विचार किया जा चुका है। संख्या के सम्बन्ध में विद्वानों का मत है कि 'शब्द' स्वभाव से ही एक, बहुआदि संख्याओं का वाचक है; विभक्ति केवल द्योतक है। अत: पाणिनि ने 'आदिर्ञिटुडव:' सूत्र में बहुवचन का

---

८. वाक्यपदीय जा० समु० ३।
१. प्रातिपादिकार्थलिंगपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा। अष्टा० २.३.४६।
२. व्युत्पत्तिवाद, लिंगर्थ विचार।
३. अष्टाध्यायी ४/१/३।
४. स्त्रीत्वं च प्रत्ययार्थ प्रकृत्यर्थ विशेषणं वप्युमयं युज्यते।
स्त्रियामभिधेयायां स्त्रिधां वयत् प्रातिपदिकं वर्तते इति। काशिका, ४.१.३।
५. शब्दशक्तिप्रकाशिका, कारिका ५४।
६. वैयाकरण भूषणसार, कारिका २५।

बोध कराने के लिए आदि पद में एकवचन का प्रयोग किया है। जिससे स्पष्ट है कि संख्या शब्द में स्वभावतः ही विद्यमान होती है। जो विद्वान् लिंग को प्रातिपदिकार्थ मानते हैं उनके मतानुसार अजा, कुमारी आदि पदों में आ, ई प्रत्यय स्त्रीलिंग के वाचक नहीं वरन्, तात्पर्यग्राहक होने के कारण केवल लिंग के द्योतक हैं।[१] अतः पदार्थ से लिंग का भी बोध होता है। इसी प्रकार कारक भी एक अतिरिक्त पदार्थ है। 'दधि अस्ति' 'दधि पश्य' आदि वाक्यों में बिना विभक्ति के ही कर्त्ता तथा कर्म की प्रतीति होती है। यद्यपि कारक की प्रतीति 'सुप्' विभक्ति से होती है।

अतः स्पष्ट है कि लिंग, संख्या तथा कारक भी पदार्थ हैं। ठीक से सुनाई न पड़ने पर श्रोता स्वार्थ विषयक प्रश्न करता है कि 'आपने क्या कहा?' अनुकरण में शब्द अपने स्वरूप का ही बोधक होता है। वहाँ पर द्रव्य, जाति आदि का बोध नहीं होता। 'विष्णु इति आह' आदि पदों में विष्णु पद का अर्थ 'विष्णु' यह आनुपूर्वी ही है; क्योंकि उच्चारण शब्द का ही सम्भव है अर्थ का नहीं।[२] अतः कभी-कभी पद अपने स्वरूप का ही बोधक होता है, उदाहरणार्थ—रामो बभूव, युधिष्ठिर आसीत्।

इन वाक्यों में राम तथा युधिष्ठिर पद अपने स्वार्थ या स्वरूप के भी बोधक होते हैं। अतः प्रातिपदिक के अन्य अर्थों के बोध से पूर्व उसके स्वरूप का बोध होता है।

उपर्युक्त परिगणित पदार्थों में कुछ आचार्य स्वार्थ, द्रव्य, लिंग, संख्या तथा कारक इन पाँचों को नाम पद का अर्थ मानते हैं, तथा कुछ केवल स्वार्थ, द्रव्य तथा लिंग को ही नामार्थ के अन्तर्गत मानते हैं। इन आचार्यों का यह मत पतञ्जलि के इस कथन पर आश्रित है जिसके अनुसार शब्द सर्वप्रथम अपने स्वार्थ का बोध कराता है, तत्पश्चात् लिंग का। लिंग केवल उसी द्रव्य की अपेक्षा रखता है, अतः अन्तरंग है, जबकि संख्या तत्सदृश अन्य शब्दों की अपेक्षा रखने के कारण बहिरंग है। लिंगबोध के पश्चात् संख्या का बोध होता है, तदनन्तर कारक का बोध होता है।[३]

कैयट के मतानुसार पतञ्जलि की उपर्युक्त उक्ति में 'स्वार्थ' शब्द जाति, गुण, क्रिया, स्वरूप तथा सम्बन्ध का बोधक है[४] तथा गौः, शुक्ल, पाचक, डित्थ, राजपुरूष, क्रमशः इसके उदाहरण हैं, स्वरूप पद से भी शब्द के स्वरूप तथा उस शब्द से प्रतीयमान व्यक्ति का बोधक होता है।[५] कैयट की इस व्याख्या से स्पष्ट होता है कि

---

१. सिद्धान्त कौमुदी, सू० ४५४।

२. (क) वाक्यपदीय, १५०।
(ख) स्वार्थो दिव्यं च लिंग संख्याकर्मादिरेव च। अमीपंचैव नामार्थस्त्रयः केषांचिदग्रिमाः॥ वैयाकरण भूषण सार दर्पण टीका, का० २५।

३. स्वार्थमभिधाय शब्दों निरपेक्षो द्रव्यसाहसमवेतम्। समवेतस्य च वचने लिंग वचनं विभक्तिं च॥ अभिधाय तान् विशेषानपेक्षमानश्च कृत्स्नमात्मानम्। प्रियकुत्सनादिषु पुनः प्रवर्ततेऽसौ विभक्त्यन्तः। महा० ५/३/७४।

४. स्वोऽयं स्वार्थः स चानेकप्रकारो जातिगुण क्रियासंबधः स्वरूपं लक्षणं गौ शुक्लः पाचको राजपुरुषः डित्थ इति। प्रदीप महा० ५/३/७४।

५. स्वरूपशब्देन पदस्वरूपं च बोध्यम्। वही, उद्योत।

शब्द का स्वार्थ निश्चित नहीं है, वह शब्द के प्रयोग पर निर्भर है। इसी प्रकार द्रव्य भी सदा एक अर्थ का बोधक नहीं होता, इसका निर्णय भी परिस्थिति करती है।

अतः स्पष्ट है कि स्वार्थ, द्रव्य, लिंग, संख्या और कारक का बोध शास्त्रीय प्रक्रिया के निर्वाह के लिए ही है, तथा काल्पनिक है। लोक व्यवहार में शब्द-श्रुति के अनन्तर ही सभी की प्रतीति एक साथ होती है। ऊपर वर्णित विवेचन के आधार पर यदि गम्भीर रूप से विचार किया जाय तो यह तथ्य स्पष्ट होता है कि प्रातिपदिक अधिक से अधिक तीन तथा कम से कम एक अर्थ का बोधक होता है। स्वरूप, जाति, द्रव्य, लिंग ये तीन ही प्रातिपदिकार्थ हैं।

जाति तथा द्रव्य की प्रतीति मिश्रित तथा सम्मिलित रूपेण होती है, यथा 'अयम् अश्वोऽस्ति', 'गर्दभो नास्ति' इस वाक्य में अश्व तथा गर्दभ शब्द द्रव्य-विशिष्ट जाति के बोधक हैं, तथा 'अश्वं-नय', 'गाम् आनय' इन वाक्यों में जाति तथा व्यक्ति के विशिष्ट अर्थबोध की प्रक्रिया सर्वत्र समान है। अर्थ की दृष्टि से ये दोनों सम्मिलित अर्थ की प्रतीति कराते हैं। लिंग का बोध कभी प्रातिपदिक से होता है कभी प्रत्यय से। लिंग-बोधक प्रत्ययों का प्रयोग केवल स्त्रीलिंग का बोध कराने के लिए किया जाता है। कुछ शब्द प्रायः स्वभाव से ही पुल्लिंग, स्त्रीलिंग तथा नपुंसक लिंग होते हैं। तथा कहीं-कहीं बिना किसी प्रत्यय के केवल लोक-व्यवहार के कारण ही किसी को पुल्लिंग या नपुंसकलिंग या स्त्रीलिंग मान लिया जाता है।[१] 'कलत्रम्' को नपुंसक लिंग तथा 'दारा' को पुल्लिंग मानना इसी का प्रतीक है। अभिप्राय यह है कि संस्कृत के सभी पुल्लिंग तथा नपुंसकलिंग तथा कुछ स्त्रीलिंग शब्द स्वभावतः लिंग के बोधक होते हैं, ऐसे स्थलों पर लिंग प्रातिपदिकार्थ ही होता है तथा जिसमें स्त्रीवाची प्रत्यय लगाया जाता है, वहाँ लिंग प्रत्यय द्वारा ही बोध्य है। 'दधि भक्षय' आदि प्रयोगों में भी लुप्त विभक्ति से ही अर्थ बोध होता है। यही कारण है कि लोप को भाषा-वैज्ञानिक 'शून्य-अर्थवत्' कहते हैं। विवेचन की एकरूपता के लिये शून्य अर्थ के लोप का मानना अत्यन्त आवश्यक है, अगर ऐसा नहीं होगा तो कहीं पर संख्या और कारक का बोध प्रातिपदिक से होगा तो कहीं पर प्रत्यय से।

पद एवं अर्थ से सम्बन्धित पतञ्जलि का सिद्धान्त

महाभाष्य के प्रथम आह्निक में ही महाभाष्यकार ने 'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे' वार्तिक को प्रस्तुत करके बताया है कि शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध नित्य है। इन्होंने पद-पदार्थ के सम्बन्ध की नित्यता का प्रतिपादन करते हुए इस सम्बन्ध की स्वाभाविकता का प्रतिपादन इस प्रकार किया है कि शब्दों का अपने ही अर्थ को कहना स्वाभाविक है, कृतक नहीं। इन्हीं के भाव को स्पष्ट करते हुए कैयट ने लिखा है कि शब्द की अर्थ के साथ नित्यता का भाव यह है कि शब्द या पद में यह योग्यता स्वाभाविक होती है कि

---

१. पदपदार्थसमीक्षा, पृ० २२० से उद्‌धृत।

जब शब्दों का उच्चारण किया जाता है तब अर्थ की प्रतीति होती है। द्रव्य अनित्य होने पर भी सम्बन्ध नित्य होता है; क्योंकि अर्थबोधन की योग्यता शब्द में रहती है तथा शब्द नित्य हैं। शब्द और अर्थ की नित्यता अनादि तथा अनश्वर है।[१] धातु प्रातिपदिक, प्रत्यय तथा निपात इनके अर्थों की इयत्ता को बाँधा नहीं जा सकता कि इस धातु या प्रातिपदिक का अर्थ इतना ही है, वह भिन्न नहीं हो सकता।[२]

इससे स्पष्ट है कि पतञ्जलि शब्द के अर्थद्योतकता का गुण स्वाभाविक मानते हैं।[३] पतञ्जलि ने अर्थ के विषय में लिखा है कि शब्द अर्थ से अभिन्न हैं और अर्थ शब्द की अन्तरंग शक्ति है। अतएव शब्द अर्थ से अपृथक् हैं। इन्होंने 'स्वरूपं शब्दस्या-शब्दसंज्ञा'[४] सूत्र के भाष्य में दो प्रकार के अर्थ का प्रतिपादन किया है,[५] पहला शब्द का स्वरूप तथा दूसरा वाह्य वस्तु, बौद्ध पदार्थ। उदाहरणार्थ—अग्नेर्ढक्[६] अर्थात् अग्नि शब्द से ढक् प्रत्यय होता है तो यहाँ पर अग्नि शब्द अपने वर्णानुपूर्वी का ही बोध कराता है, भौतिक अग्नि का नहीं। किन्तु लोक-व्यवहार में अग्नि सामान्य का ही बोध कराता है। 'गाय लाओ', 'दधि लाओ' आदि शब्दों से पदार्थ लाया जाता है। यहाँ अर्थ की प्रतीति शब्द के द्वारा ही होती है, जब तक शब्द ठीक से सुना न जाय वह अर्थ की प्रतीति नहीं करा सकता।[७] पतञ्जलि ने कात्यायन के वार्तिक 'यद् वा सर्वे भावाः स्वेन भावेन स तेषां भावस्तदभिधाने'[८] में प्रयुक्त भाव पद के तीन बार प्रयोग की सार्थकता का प्रतिपादन कराते हुए लिखा है कि प्रथम भाव 'शब्द' का अर्थ है शब्द तथा अन्य दोनों का 'अर्थ' है अर्थ। अतः अर्थ का लक्षण इस प्रकार होगा कि समस्त शब्द स्व-स्व अर्थ के बोधन के लिए होते हैं, जिस-जिस अर्थ के बोध के लिए शब्द का प्रयोग होता है वही उसका अर्थ होता है।[९] कैयट ने इसका भाव स्पष्ट करते हुए लिखा है कि समस्त शब्द जिस प्रवृत्तिनिमित्त से अर्थात् जिस वाच्य अर्थ के द्योतक को प्राप्त होते हैं, वही प्रवृत्ति-निमित्त रूप अर्थ (वाच्यार्थ) उन पदों का अर्थ हैं।[१०]

१. (क) प्रदीप, महा० आ० १। (ख) प्रदीप, महा० आ० १।
२. किं स्वाभाविकं शब्दैरर्थाभिधानंमाहोस्विद् वाचनिकम्?
स्वाभाविकमित्याह असम्भव स्वल्पप्यर्थादेशस्य। को हि नाम समर्थो धातुप्रातिपदिकप्रत्यय-निपातानामर्थानादेष्टुम्। महा० २.१.१।
३. अभिधानं पुनः स्वाभाविकम्। महा० २/२/२९।
४. अष्टाध्यायी, १/१/६८।
५. अस्त्यन्यद् रूपात् स्व शब्दस्य किं पुनस्तत्? अर्थः शब्देनोच्चारितेनानार्थोगम्यते। गामानय, दध्यशानेति अर्थ आनीयते, अर्थस्य मुज्यते। महा० १/१/६८।
६. अष्टाध्यायी, ४.२.३३।
७. तदपि नित्यं यस्मिंस्तत्त्वं न विहन्यते। किं पुनस्तत्त्वम्? तस्य भावस्तत्त्वम्। महा० आ० १।
८. वार्तिक महा० ५/१/११९।
९. किमेभिस्त्रिभिरथावग्रहणं क्रियते? एकेन शब्दप्रतिनिर्दिश्यते द्वाभ्यामर्थः यद् वा सर्वे शब्दाः स्वेनार्थेन भवन्ति स तेषामर्थः। महा० ५/१/११९।
१०. प्रदीप, वही।

जब शब्दों का उच्चारण किया जाता है तब अर्थ की प्रतीति होती है। द्रव्य अनित्य होने पर भी सम्बन्ध नित्य होता है; क्योंकि अर्थबोधन की योग्यता शब्द में रहती है तथा शब्द नित्य हैं। शब्द और अर्थ की नित्यता अनादि तथा अनश्वर है।[१] धातु प्रातिपदिक, प्रत्यय तथा निपात इनके अर्थों की इयत्ता को बाँधा नहीं जा सकता कि इस धातु या प्रातिपदिक का अर्थ इतना ही है, वह भिन्न नहीं हो सकता।[२]

इससे स्पष्ट है कि पतञ्जलि शब्द के अर्थद्योतकता का गुण स्वाभाविक मानते हैं।[३] पतञ्जलि ने अर्थ के विषय में लिखा है कि शब्द अर्थ से अभिन्न हैं और अर्थ शब्द की अन्तरंग शक्ति है। अतएव शब्द अर्थ से अपृथक् हैं। इन्होंने 'स्वरूपं शब्दस्या-शब्दसंज्ञा'[४] सूत्र के भाष्य में दो प्रकार के अर्थ का प्रतिपादन किया है,[५] पहला शब्द का स्वरूप तथा दूसरा वाह्य वस्तु, बौद्ध पदार्थ। उदाहरणार्थ—अग्नेर्ढक्[६] अर्थात् अग्नि शब्द से ढक् प्रत्यय होता है तो यहाँ पर अग्रि शब्द अपने वर्णानुपूर्वी का ही बोध कराता है, भौतिक अग्रि का नहीं। किन्तु लोक-व्यवहार में अग्नि सामान्य का ही बोध कराता है। 'गाय लाओ', 'दधि लाओ' आदि शब्दों से पदार्थ लाया जाता है। यहाँ अर्थ की प्रतीति शब्द के द्वारा ही होती है, जब तक शब्द ठीक से सुना न जाय वह अर्थ की प्रतीति नहीं करा सकता।[७] पतञ्जलि ने कात्यायन के वार्तिक 'यद् वा सर्वे भावाः स्वेन भावेन स तेषां भावस्तदभिधाने'[८] में प्रयुक्त भाव पद के तीन बार प्रयोग की सार्थकता का प्रतिपादन कराते हुए लिखा है कि प्रथम भाव 'शब्द' का अर्थ है शब्द तथा अन्य दोनों का 'अर्थ' है अर्थ। अतः अर्थ का लक्षण इस प्रकार होगा कि समस्त शब्द स्व-स्व अर्थ के बोधन के लिए होते हैं, जिस-जिस अर्थ के बोध के लिए शब्द का प्रयोग होता है वही उसका अर्थ होता है।[९] कैयट ने इसका भाव स्पष्ट करते हुए लिखा है कि समस्त शब्द जिस प्रवृत्तिनिमित्त से अर्थात् जिस वाच्य अर्थ के द्योतक को प्राप्त होते हैं, वही प्रवृत्ति-निमित्त रूप अर्थ (वाच्यार्थ) उन पदों का अर्थ हैं।[१०]

---

१. (क) प्रदीप, महा० आ० १। (ख) प्रदीप, महा० आ० १।

२. किं स्वाभाविकं शब्दैरर्थाभिधानंमाहोस्विद् वाचनिकम्? स्वाभाविकमित्याह असम्भव स्वल्पप्यर्थादेशस्य। को हि नाम समर्थो धातुप्रातिपदिकप्रत्यय-निपातानामर्थानादेष्टुम्। महा० २.१.१।

३. अभिधानं पुनः स्वाभाविकम्। महा० २/२/२९।

४. अष्टाध्यायी, १/१/६८।

५. अस्त्यन्यद् रूपात् स्व शब्दस्य किं पुनस्तत्? अर्थः शब्देनोच्चारितेनानार्थोगम्यते। गामानय, दध्यशानेति अर्थ आनीयते, अर्थस्य मुज्जयते। महा० १/१/६८।

६. अष्टाध्यायी, ४.२.३३।

७. तदपि नित्यं यस्मिंस्तत्त्वं न विहन्यते। किं पुनस्तत्त्वम्? तस्य भावस्तत्त्वम्। महा० आ० १।

८. वार्तिक महा० ५/१/११९।

९. किमेभिस्त्रिभिरथावग्रहणं क्रियते? एकेन शब्दप्रतिनिर्दिश्यते द्वाभ्यामर्थः यद् वा सर्वे शब्दाः स्वेनार्थेन भवन्ति स तेषामर्थः। महा० ५/१/११९।

१०. प्रदीप, वही।

जैसा कि पतञ्जलि ने पूर्वोक्त कथन में अर्थनित्यता का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि शब्द अर्थ तथा उनका सम्बन्ध नित्य है।[१] किन्तु पतञ्जलि की इस अर्थनित्यता के विषय में सन्देह उत्पन्न हो सकता है। पतञ्जलि अर्थविकास के सिद्धान्त को सर्वथा स्वीकार नहीं करते। उनके मतानुसार शब्द का एक अर्थ सदा नहीं रहता; क्योंकि उसमें भाषा-विकास के साथ-साथ परिवर्तन होता रहता है अर्थात् शब्द के अर्थ का अर्थविस्तार, अर्थसंकोच तथा अर्थादेश में प्रवृत्ति होती है। पतञ्जलि के मतानुसार अर्थ की नित्यता का भाव यह है कि उसके मूलतत्त्व का विनाश नहीं होता।[२] जिस प्रकार स्वर्ण से विभिन्न प्रकार के आभूषण बनाये जाते हैं उन्हें गलाकर पुनः अन्य आभूषण तैयार किए जा सकते हैं, आकृतियाँ भिन्न रहती हैं, परन्तु स्वर्ण तत्त्व के सदैव विद्यमान रहने के कारण उसे नित्य ही कहेंगे।

कैयट ने लिखा है कि एक शब्द का एक ही अर्थ नियमितरूपेण प्रयुक्त होता तो अर्थविषयक सन्देह ही न होता, परन्तु ऐसा नियम नहीं है, अतः सन्देह होता है।[३] इसी कारण महाभाष्यकार ने लिखा है कि 'एकश्च शब्दो बह्वर्थः' अर्थात् एक ही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं।[४] शब्द की यह प्रवृत्ति अर्थविकास कही जाती है, अर्थविकास की यह प्रवृत्ति तीन प्रकार से होती है—अर्थसंकोच, अर्थविस्तार तथा अर्थादेश। इनका विवेचन इस प्रकार है :—

अर्थ-संकोच :—अर्थ-संकोच के विषय में महाभाष्यकार की मान्यता है कि लोक-प्रसिद्धि के आधार पर कुछ शब्दों का अर्थ-संकोच हो जाता है, तथा उस शब्द का विशेष स्थान पर ही प्रयोग सम्भव है, अन्यत्र नहीं। उदाहरणार्थ रक्त, लोहित तथा शोण शब्द पर्यायवाची हैं। परन्तु 'लाल अश्व' को 'शोणः अश्वः' ही कहा जाता है; क्योंकि 'शोण' शब्द अश्व के साथ ही प्रयुक्त होता है। उसी प्रकार कृष्ण अश्व के लिए 'हेम' शब्द का प्रयोग होता है, जैसे—'अश्वे हेम', शुक्ल अर्थ में अश्व के लिए 'कर्क' शब्द का प्रयोग होता है, 'अश्व कर्कः'। जबकि शोण, हेम, कर्क शब्द क्रमशः रक्त, कृष्ण तथा श्वेत के पर्याय हैं। परन्तु अश्व के साथ इनका प्रयोग होने से इनका अर्थ-संकुचित हो गया है।[५]

भाष्यकार के अनुसार समास तथा विशेषणों से अर्थसंकोच हो जाता है, जैसे—अब्भक्षः, वायुभक्षः कर्णेजयः, पश्यतोहरः (स्वर्णकार), कण्ठेकालः (शिव)[६] इसी

---

१. सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे। वार्तिक महा० आ० १।

२. तदपि नित्यं यास्मिंस्तत्त्वं न विहन्यते। किं पुनस्तत्त्वम् ? तस्यभावस्तत्त्वम्। महा० आ० १।

३. उद्योत, महाभाष्य आ० १।

४. अन्यार्थमपि प्रकृतमन्यार्थं भवति। महा० १/१/२२।

५. युक्तं पुनर्यन्नियतविषयाः नाम शब्दाः स्युः ? अन्यत्रापि हि नियतविषयाः शब्दाः दृश्यन्ते। तद्यथा—समाने रक्ते वर्णे गौ लोहित इति भवति, अश्वः शोण इति। समाने काले च वर्णे गौः कृष्ण इति भवति अश्वो हेमः। समाने शुक्ले वर्णे गौः श्वेत इति भवति अश्व कर्क इति। महा० २/१/२९।

६. महा० आ० १।

प्रकार विशेषणों के संयोग से भी अर्थसंकोच हो जाता है, तथा वह 'शब्द' विशेष अर्थ का वाचक हो जाता है, यथा 'शुक्ल पटः', 'शुक्लाः गौः' आदि।[१] इसी प्रकार तद्धित और कृदन्त प्रत्ययों के योग से शब्द किसी विशेष अर्थ में रूढ़ हो जाते हैं।

इसका तात्पर्य है कि धातुओं के अर्थ सामान्यरूपेण निर्दिष्ट हैं, परन्तु कतिपय प्रत्ययों के प्रयोग से इनका अर्थ नियत हो जाता है। उदाहरणार्थ 'घृ' धातु का सामान्य अर्थ सेचन तथा दीप्ति है, परन्तु घृत, घृणा (दया), घर्म (ऊष्ण, ग्रीष्म ऋतु) शब्द विशेष अर्थों में ही प्रयुक्त होते हैं। राशि, रश्मि और रशना शब्द रश् धातु से निष्पन्न है, परन्तु ये सभी विभिन्न अर्थों की प्रतीति कराते हैं।[२] छात्र शब्द विद्यार्थी के अर्थ में रूढ़ हो गया है, पतञ्जलि ने लिखा है कि गुरु छत्र हैं; क्योंकि वह शिष्य को आच्छादित करता है, अज्ञान को दूर करता है जिस प्रकार छत्र उष्णता को दूर करता है, उसी प्रकार गुरु अज्ञानता को दूर करता है। अमा (साथ) शब्द से निष्पन्न अमात्य शब्द सचिव के अर्थ में रूढ़ है, परन्तु अमावस्या का अर्थ विशिष्ट है।[३]

इसी अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए नागेश ने कहा है कि 'रूढ़ि' शब्दों में क्रिया का निर्देश केवल उसकी व्युत्पत्ति के ज्ञान के लिए होता है, यथा गच्छतीति गौः, वस्तुतः उसका अर्थ रूढ़ि संज्ञा हो जाने के कारण समाप्त प्राय हो जाता है। अतएव गमन क्रिया के अभाव में भी उसे गौः कहते हैं तथा अन्य वस्तु में जो गमन नहीं करता उन्हें गौः नहीं कहते।[४] नागेश ने भी अन्यत्र स्पष्ट किया है कि 'मातृ' शब्द के दोनों ही अर्थ हैं, माता (जननी) तथा तौलने वाला परन्तु प्रसिद्धि के आधार पर अर्थ-संकोच होने से माता का अर्थ जननी ही लिया जाता है। तौलने वाला नहीं।[५]

अर्थविस्तार :—जब एक शब्द अपने मौलिक अर्थ से परिवर्तित होता हुआ अनेक अर्थों में प्रयुक्त होने लगता है, तब यह अर्थविस्तार कहा जाता है, यथा—'गो' पृथ्वी को उसकी गमनशीलता के कारण गो नाम दिया जाता है। यह अर्थविस्तार की दिशा में बढ़ता हुआ साधर्म्य के कारण गाय, इषु, आदित्य, रश्मि आदि में भी इस अर्थ का विस्तार निरूपित हुआ है। कैयट ने इस अर्थ विस्तार का उदाहरण देते हुए लिखा है कि 'प्रवीण' शब्द का अर्थ है 'प्रकृष्टो वीणायाम्' अर्थात् वीणावादन में सुयोग्य। किन्तु यह शब्द अपने संकुचित अर्थ वीणा वादन को छोड़कर किसी भी कार्य में दक्ष के लिए प्रयोग होता है; तथा अपने अर्थ विस्तार हो जाने से वीणा में भी

---

१. सर्वश्चशब्दोऽन्येन शब्देनाभिसंबध्यमानो विशेषवचनः संपद्यते। महा० २/१/५५।

२. यथान्यत्रापि अविशेषविहिताः शब्दाः नियतविषयाः दृश्यन्ते। यथा—धरति-रस्मायविशेषणो-पदिष्टः स घृतं, घृणा, घर्म, इत्येव विषयः। रश्मिरस्माय विशेषणोपदिष्टः स राशिःरश्मिरशनेत्येवं विषयः। महा० १/८६।

३. महा० ४/२/१०४।

४. उद्योत महा० ३/२/५६।

५. अवयवप्रसिद्धे समुदायप्रसिद्धिर्वलीयसी। परिभाषेन्दुशेखर परि० १०७।

चतुर के लिए 'वीणायां प्रवीणः' (वीणावादन में कुशल) का प्रयोग होता है ; क्योंकि प्रवीण शब्द वीणा में प्रवीणता का नियमित रूपेण बोध नहीं कराता।[१]

इसी प्रकार पतञ्जलि ने भी अर्थविस्तार के कुछ उदाहरण दिए हैं; यथा—गोष्ठ शब्द का मुख्यार्थ था गायों के रहने का स्थान, परन्तु अर्थ-विस्तार से गोष्ठ शब्द का अर्थ रह गया रहने का स्थान। इसी कारण कात्यायन ने गोष्ठ शब्द को स्थान का पर्यायवाची शब्द बना दिया है[२] 'अविगोष्ठम्' भेड़ों के रहने का स्थान। 'गौयुग' का अर्थ था गौओं का युग्म परन्तु सामान्य वाचकता के कारण केवल युग्म अर्थ जोड़े का वाचक रह गया। अतः कात्यायन ने युग्म अर्थ की प्रतीति के लिए (द्वित्व द्योतन के लिए) गोयुगच्[३] प्रत्यय का विधान किया है। यथा—खरगोयुगम्, उष्ट्रगोयुगम्। कट शब्द का मुख्यार्थ था रज्जु वीरण नामक घास का समूह, परन्तु यह केवल समूह का वाचक रह गया। तैल जिसका मूल अर्थ है 'तिल का रस' अतः संस्कृत और हिन्दी में तिल के तैल को तेल कहते हैं। किन्तु आधुनिक समय में इस शब्द का प्रयोग सभी प्रकार के तैलों के लिए किया जाता है। अविकटः (भेड़ों का समूह)। इसी प्रकार वस्त्रवाची 'पट' शब्द सामान्य वाचक होकर विस्तार वाची हो गया, यथा अविपटः (भेड़ों का विस्तार), उष्ट्रपटः (ऊँटों का विस्तार)[४]।

अर्थादेश :—'भाव-साहचर्य' के कारण कभी-कभी प्रधान अर्थ के साथ-साथ गौण अर्थ भी चलने लगते हैं। कुछ दिनों में प्रधान अर्थ का लोप हो जाता है और गौण अर्थ ही प्रयुक्त होने लगते हैं। इस प्रकार एक अर्थ का लोप तथा नवीन अर्थ के आ जाने को 'अर्थादेश' कहते हैं। यह अर्थसंकोच तथा अर्थविस्तार के मध्य की स्थिति है। पतञ्जलि ने 'शालीनकौपी अधृष्ट कार्ययोः'[५] सूत्र की व्याख्या में कौपीन शब्द का अर्थ दुष्कार्य किया है, तथा इसका सम्बन्ध कूपपतन के योग्य कार्य से किया है।[६] परन्तु यह शब्द कूपार्थ के साथ सम्बन्ध और अकार्य को छोड़कर कौपीन वस्त्र विशेष के लिए प्रयुक्त होने लगा। संस्कृत का 'वाटिका' शब्द बाद में वाणी हो गया और उसका अर्थ घर हो गया। इसी प्रकार 'भ्रातृव्य' शब्द का मुख्यार्थ 'भ्राता का पुत्र' था परन्तु पतञ्जलि ने 'व्यन्सपत्ने' सूत्र की व्याख्या करते समय लिखा है कि भ्रातृव्य शब्द अपत्यार्थ को त्यागकर 'शत्रु' अर्थ में प्रचलित है।[७]

---

१. यथा प्रकृष्टो वीणायां इति व्युत्पत्तिमात्रं क्रियते, कौशलं त्वस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्। तेन वीणायां प्रवीण इत्यपि भवति। प्रदीप, महा० ५/२/२९।
२. गोष्ठ्यादपि स्थानादिषु पशुनामादिभ्यः। महा० ५/२/२९।
३. द्वित्वे गोयुगच्। महा० ५/२/२९।
४. विस्तारे पटच्। महा० ५/२/२९।
५. अष्टाध्यायी ५/२/२०।
६. कूपावरणमर्हत्यकार्यं तत्त कौपीनम्। महा० ५/२/२०।
७. अष्टाध्यायी ४/१/१४५।

शब्द-शक्ति सम्बन्धी पतञ्जलि का विचार

पद-पदार्थ के निरूपण के पश्चात् शब्द से अर्थ की प्रतीति किस प्रकार होती है, इस विषय पर विद्वानों ने विचार किया है। यहाँ पतञ्जलि के दृष्टिकोण से इस विषय पर विचार किया जायेगा।

शब्द के द्वारा अर्थ की प्रतीति कराने के विषय में पतञ्जलि ने लिखा है कि शब्द सत्ता-भाव से ही अर्थ का प्रकाशन नहीं करता, बल्कि शब्द में एक शक्ति होती है जिसके द्वारा अर्थों का प्रकाश होता है। शब्द का प्रयोग होने पर ही अर्थ का प्रकाशन होता है। अर्थात् शब्द-प्रयोग की सार्थकता अर्थ-बोध कराने में ही होती है।

महाभाष्यकार ने लिखा है कि अर्थ-प्रतीति के लिए ही शब्द का प्रयोग किया जाता है।[१] शब्द प्रयोग तथा अर्थ-प्रतीति का ज्ञान लोक व्यवहार से होता है। व्याकरण-शास्त्र तो केवल व्यवस्था मात्र करता है। आचार्य पाणिनि का भी यही मत है। नागेश ने लिखा है कि मौन अवस्था में तथा मानस जाप में भी ताल्वादि का सूक्ष्मतर व्यापार होने से सूक्ष्म उच्चारण होता ही है। यदि बिना उच्चारण के ही अर्थ-बोध होने लगे तो सभी शब्द बुद्धि में विद्यमान रह जायेंगे तथा स्वयं ही ज्ञानधारा का प्रवाह होने लगेगा? अतः स्थूल नहीं तो सूक्ष्ममात्र एवं उच्चारण अर्थबोध के लिए आवश्यक हैं।[२] वृत्ति-ज्ञान के बिना शब्द का अर्थ बोध असम्भव है।[३] वृत्ति क्या है? इस विषय पर विद्वानों ने विचार किया है; अर्थात् इस पद का यह अर्थ है इस वृत्तिज्ञान को ही शक्तिग्रह या शक्ति-ज्ञान भी कहते हैं। यह शक्तिज्ञान, व्याकरण, उपमान, कोष, आप्तवचन, व्यवहार, वाक्यशेष (प्रकरण), विवरण ज्ञात पद के साहचर्य के द्वारा होता है।[४] इन आठ उपायों के द्वारा ही शक्तिग्रह या वृत्तिज्ञान होता है। परन्तु कभी-कभी कुछ ऐसे कारण आ जाते हैं जो अर्थ की उपलब्धि में बाधक हैं, पतञ्जलि ने ऐसे छः कारणों का उल्लेख इस प्रकार किया है :—

१. कभी-कभी अतिसामीप्य के कारण अर्थज्ञान नहीं हो पाता है, यथा—शब्द आकाशस्थ हैं तथा व्यापकता के कारण शब्द कान में भी विद्यमान है, पुनरपि उससे अर्थ ज्ञान नहीं होता।
२. अति दूर उच्चरित शब्द श्रवण न होने के कारण अर्थ-बोधक नहीं है।
३. मूर्त्यन्तर व्यवधान अर्थात् किसी वस्तु का व्यवधान होने पर भी शब्द श्रवण न होने पर अर्थ की प्रतीति नहीं होती।
४. अज्ञान के कारण शब्द श्रवण न होने से अर्थ-बोध नहीं होता।

---

१. (क) महा० १/१/४३। (ख) महा० आ० १।
२. मंजूषा पृष्ठ ४४४।
३. मंजूषा पृष्ठ १०।
४. शब्द-शक्ति श्लोक २०।

५. इन्द्रिय-दौर्बल्य के कारण भी अर्थबोध सम्भव नहीं है।

६. अति प्रमाद अथवा चित्त के विषयान्तर में आसक्त होने पर भी अर्थ की उपलब्धि नहीं होती।

पतञ्जलि ने अन्यत्र उल्लेख किया है कि इन्द्रियाँ जब मन से संयुक्त नहीं होती तो भी अर्थ की उपलब्धि नहीं होती अतः संयुक्त होने पर ही अर्थ की प्रतीति सम्भव है।[१] नागेश के मतानुसार शब्द के उच्चारण के उपरान्त भी कभी-कभी अर्थ की अनुपलब्धि रहती है, जिसके निम्नलिखित कारण हैं :—

१. शब्द-शक्ति विस्मृत होने पर भी अर्थ-ज्ञान नहीं होता।

२. तद्-वाचक पद का ज्ञान न होने पर भी अर्थ-बोध नहीं होता।

३. अयथार्थ अर्थज्ञान से भी शब्दार्थ का ज्ञान नहीं होता।

४. संस्कार के उद्‌बुद्ध न होने पर भी अर्थ का बोध नहीं होता।[२]

भाष्यकार ने लिखा है कि अर्थ पूर्व में ही विद्यमान हैं। इनके बोध कराने के लिए शब्दों की रचना होती है। शब्दों की सत्ता मानकर अर्थों की सृष्टि नहीं होती। इसी कारण उन्होंने शब्द तथा अर्थ में अर्थ की प्रधानता का प्रतिपादन किया है।[३]

कैयट के अनुसार 'शब्द उत्पादक नहीं ज्ञापक है।' अर्थ पहले से ही विद्यमान है। शब्द के द्वारा अर्थ की प्रतीति होती है।

वृत्ति सम्बन्धी पतञ्जलि का सिद्धान्त

पूर्व में ही स्पष्ट किया जा चुका है कि वृत्तिज्ञान को ही शक्ति-ग्रह या शक्ति-ज्ञान भी कहते हैं। तथा वृत्ति-ज्ञान के बिना शब्द-बोध सम्भव नहीं है।

नागेश ने इस वृत्ति के तीन भेद माने हैं :—

शक्ति (अभिधा), लक्षणा तथा व्यञ्जना।[४] आचार्य विश्वनाथ ने वृत्ति के स्थान पर शक्ति का प्रयोग किया है तथा इसे शब्द-शक्ति मानकर, अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना ये तीन भेद किए हैं।[५]

वैयाकरणों के अनुसार पद और पदार्थ में जो सम्बन्ध हैं वह शब्द और अर्थ से पृथक् रहते हुए भी दोनों में नियम को स्थापित करता है, तथा इसी कारण शब्द किसी विशेष अर्थ को व्यक्त करता है,[६] जिससे स्पष्ट है कि पद-पदार्थ में जो विशेष सम्बन्ध है, उसी को शक्ति कहते हैं। इसी को वाच्य-वाचक भाव भी कहते हैं।

---

१. मनसा संयुक्तानीन्द्रियाँण्युल्ब्धौ कारणानि भवन्ति, मनसोऽसानिध्यात्। महा० ३/२/१५।

२. मंजूषा पृष्ठ १३।

३. किं कृते पुनः प्राधान्यम्? अर्थकृतम्। महा० ३/१/१।

४. सा च वृतिस्त्रिधा। शक्तिर्लक्षणाव्यञ्जना च। (मंजूषा शक्ति निरूपण)

५. साहित्य दर्पण, २/३।

६. सम्बन्धी सम्बन्धिभ्यां भिन्न उभयाश्रितः इति, द्विष्ठः सम्बन्धः इति च विशिष्टबुद्धिनियामक इति। मंजूषा, पृ० २२।

इस अध्याय के पदार्थ निरूपण में पतञ्जलि ने 'त्रयी शब्दानां प्रवृत्तिः' का विवेचन किया है, जिसके अनुसार चतुष्टयी होने पर भी त्रयी कहने का तात्पर्य यह है कि सभी शब्द उत्पन्न ही होते हैं तथा प्रत्येक में गुण तथा क्रिया दो ही अंश रहते हैं, वे या तो क्रिया का बोध कराते हैं या गुण का। अतः चतुष्टयी शब्द की प्रवृत्ति व्यावहारिक दृष्टि से उचित है तथा त्रयी-प्रवृत्ति वाला मत पारमार्थिक दृष्टि से उचित है।[१]

कुछ विद्वानों के अनुसार पद में जो शक्ति हैं उसका बोध संकेत कराता है अतएव व्यावहारिक रूप से संकेत को भी शक्ति कह देते हैं। किन्तु संकेत शक्ति नहीं हो सकता ; क्योंकि वह पद-पदार्थ में न भिन्नरूपेण रह सकता है, और न अभिन्न रूप में रह सकता है।[२]

वस्तुतः इस संकेत के द्वारा जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छावाची अर्थों में शब्दों की प्रवृत्ति होती है। नागेश ने इस शक्ति के 'रूढ़ि', 'यौगिक' तथा 'योगरूढ़ि' नामक तीन भेदों का उल्लेख किया है।[३] रूढ़ि नामक शक्ति अर्थात् 'अभिधा' का लक्षण करते हुए लिखा है कि जहाँ पर शास्त्रकारों के कल्पित अवयवों के अर्थ की प्रतीति नहीं होती है तथा जिसके कारण प्रकृति-प्रत्यय के समुदाय मात्र में बोध्यता रहती हैं, उस शक्ति को रूढ़ि कहते हैं। पतञ्जलि ने रूढ़ि शब्दों को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि रूढ़ि ताच्छीलिक होते हैं।[४] कैयट ने रूढ़ि शब्दों को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि इसमें केवल व्युत्पत्ति के लिए क्रिया का आश्रय लिया जाता है। उदाहरणार्थ—गौ शब्द का निर्वचन किया जाता है गच्छतीति गौः (गमनशीलता के कारण गौः), किन्तु गमनशीलता से रहित होने पर भी गाय को गाय कहते हैं, तथा गाय से भिन्न अन्य पदार्थों को गमनशील होने पर भी गाय नहीं कहते हैं।[५]

पतञ्जलि के मत में लक्षण के कारण

महाभाष्यकार ने 'पुंयोगादाख्यायाम्'[६] सूत्र के भाष्य के प्रसंग में लक्षणा के कारणों का उल्लेख करते हुए कहा है कि कोई भी शब्द जो पुलिंग है, वह स्त्रीलिंग नहीं हो सकता जैसे—ब्राह्मण की स्त्री को ब्राह्मणी तथा गोप की स्त्री को गोपी कहने के लिए प्रत्यय जोड़े जाते हैं।

अतः पाणिनि ने जो यह कहा है कि पुलिंग से सम्बन्ध होने के कारण जो शब्द स्त्रीलिंग का बोध कराते हैं, उनसे स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् प्रत्यय होते हैं।[७]

१. संकेतितश्च चतुर्भेदो जात्यादिर्जारिव वा। काव्यप्रकाश।
२. मंजूषा, पृ० १७-२५।
३. शक्तिस्त्रिधा रूढिर्योगोयोगरूढिश्च। मंजूषा, पृ० ८८।
४. रूढिशब्दप्रकाशस्तच्छीलिका, महा० ३/२/५६।
५. प्रदीप, महा०
६. मंजूषा, पृ० ८५।
७. महाभाष्य ४/१/४८।

पाणिनि के अनुसार सम्बन्ध का अर्थ 'तस्येदम्' (उसका यह है) होता है। पुरुष की आत्मा भी स्वतन्त्र है, तथा स्त्री की आत्मा भी स्वतन्त्र है, अतः इन दोनों में 'उसका यह है।' यह सम्बन्ध किस प्रकार सम्भव है? पतञ्जलि के मतानुसार सम्बन्धों के मूल में एक अन्य कारण भी होता है, जिसे पाणिनि ने 'तदर्हति'[१] तथा 'तदर्हम्'[२] इन दो सूत्रों में प्रस्तुत किया है, इन दोनों सूत्रों से स्पष्ट है कि योग्यता सम्बन्ध भी होता है। महाभाष्यकार ने 'अयमात्म सम्बन्धी भवति—सोऽयम्'[३] इस सूत्रानुसार तादात्म्य सम्बन्ध भी स्वीकार किया है।

यह लक्षणा किस प्रकार होती हैं इस प्रसंग में उन्होंने प्रश्न उठाया कि दो भिन्न पदार्थों में अभिन्न या तादात्म्य सम्बन्ध किस प्रकार सम्भव है? इसका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा है कि भिन्न में अभिन्नता का ज्ञान, अतद् में तद् का ज्ञान, अन्य में अन्य का आरोप, शब्द के गुणों का अर्थ में आरोप, अर्थ के गुणों का शब्द में आरोप, जाति में व्यक्ति का आरोप, आकृति में द्रव्य का आरोप, द्रव्य में आकृति का आरोप यह सब लक्षणा के कारण ही होता है। और यह लक्षणा चार प्रकार से होती हैं :—

तटस्थता :—तटस्थता का तात्पर्य है कि जो वस्तु जिसका आधार होती है उसमें लक्षणा होती है। इसमें आधार और आधेय में अन्य के गुणों का अन्य में आरोप कर लिया जाता है। उदाहरणार्थ—'गिरिर्दह्यते' अर्थात् पर्वत जलाया जाता है; जैसा कि सभी को ज्ञात है कि पर्वत जलाया नहीं जा सकता, अतः यहाँ इसका अर्थ होगा कि पर्वत के ऊपर जो वृक्ष आदि हैं वे जलाये जाते हैं।[४]

इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण है—'मंचाः हसन्ति' अर्थात् मचान हँसते हैं, चूँकि मचान हँस नहीं सकते। अतः यहाँ इसका तात्पर्य होगा कि मचान पर बैठे हुए बालक हँसते हैं।

तद्धर्मता :—जहाँ गुणों या क्रिया की समानता से अन्य में अन्य का आरोप किया जाता है। इसका भाव यह है कि जहाँ क्रिया या गुण के सादृश्य के कारण भिन्नता में अभिन्नता का आरोप कर लिया जाता है, वहाँ लक्षणा होती है। उदाहरणार्थ—जो देवदत्त नहीं है यदि उसमें देवदत्त के समान जटिलत्व, पीनत्व आदि गुणों की समानता के कारण उसे यह देवदत्त है, इस प्रकार लोगों द्वारा कहा जाता है।[५]

तत्समीपता :—यदि कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु के अत्यधिक समीप है तो समीपता के कारण उसी अन्य वस्तु में ही अन्य का आरोप कर लिया जाता है, जैसे—

---

१. अष्टाध्यायी ५/१/६३।

२. अष्टाध्यायी ५/१/११७।

३. महा० ४/१/४८।

४. तात्स्थ्यात् तावत् मञ्चाः हसन्ति, गिरिर्दह्यति। महा० ४/१/१८।

५. ताद्धर्म्यात जटिलं पीनं ब्रह्मदत्त इत्याह। ब्रह्मदत्ते यानि कार्याणि जटिलान्यपि तानि क्रियन्ते इत्यतो जटीं ब्रह्मदत्त इत्युच्यते। महा० ४/१/४८।

'गंगायां घोषः' गंगा में घोष है। यहाँ गंगा में घोष का होना सम्भव नहीं है, अतः यहाँ अत्यन्त समीपता के कारण गंगा तट पर लक्षणा हो जाती है; अर्थात् इसका तात्पर्य होगा कि गंगा के तट पर घोष है। इसी प्रकार 'कूपे गर्गकुलम्' कूँये में गर्ग का कुल है, यहाँ भी कुँए के किनारे में कुएँ का आरोप कर लिया जाता है जिसका अर्थ है कुँए के किनारे या समीप में गर्ग का कुल है।[१]

तत्साहचर्य :—साहचर्य के कारण भी अन्य में अन्य का आरोप कर लिया जाता है, जिसका तात्पर्य है कि यदि कोई व्यक्ति किसी वस्तु को धारण किए रहता है, तो उसी नाम से उसको लक्षित किया जाता है। उदाहरणार्थ—'कुन्तान् प्रवेशय' (भालों को अन्दर भेजो) चूँकि भालों के निर्जीव होने के कारण उसके द्वारा प्रवेशन कार्य सम्भव नहीं हैं अतः यहाँ भाला धारण किए हुए आदमियों में लक्षणा होती है। अतः भाले और लाठीधारियों को ही भाले और लाठियाँ कह दिया गया है।[२]

उपर्युक्त आधार पर ही नागेश ने लक्षणा की परिभाषा करते हुए लिखा है कि 'अन्वय आदि की सिद्धि न होने के कारण शब्दार्थ रूप में जिस अर्थ का ग्रहण होता है, उससे जो बोध होता है उसे लक्षणा कहते हैं।' शक्ति विषयक संस्कार का उद्‌बोधन ऐसे स्थलों पर पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण भी होता है।[३]

परन्तु नागेश ने इस मत में संशोधन करते हुए लिखा है कि तात्पर्य की अनुपपत्ति अर्थात् वक्ता जो कहना चाहता है उसका बोध न होने पर ही लक्षणा का कारण कहना चाहिए।[४] यथा—गंगायां घोषः। गंगा में घोष है। इस उदाहरण में गंगा शब्द की तीर में लक्षणा द्वारा घोष शब्द की 'मकर' में लक्षणा द्वारा भी अन्वय ठीक हो सकता है। अतः गंगा में घोष का होना सम्भव नहीं है। इसके निवारण हेतु ही लक्षणा के द्वारा 'गंगा का तट' यह लिया जाता है, परन्तु घोष शब्द में लक्षणा के द्वारा इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि गंगा में 'मगर' है। परन्तु यहाँ वक्ता का अभिप्राय यह नहीं है। इन्होंने लक्षणा के निरूपण के प्रसंग में 'तात्पर्यानुपपत्ति' के साथ रूढ़ि या प्रयोजन को भी कारण मानते हुए लिखा है कि अनुभव में ऐसा ही देखा जाता है कि लक्षणा रूढ़ि के आधार पर होती है या किसी विशेष प्रयोजन के आधार पर।[५] अतः लक्षणा 'मुख्यार्थबोध', 'मुख्यार्थ से सम्बन्ध' तथा रूढ़ि या प्रयोजन ये तीन प्रकार की होनी चाहिये।

पतञ्जलि के मत में व्यञ्जनावृत्ति

महाभाष्य में पतञ्जलि ने व्यञ्जनावृत्ति का साक्षात् उल्लेख नहीं किया है, बल्कि सूत्रों के भाष्यप्रसंग में उन्होंने व्यञ्जनाशैली को दर्शाया है। इनके मतानुसार कहीं-कहीं

१. महा० ४/१/४८।
२. महा० ४/१/४८।
३. मंजूषा, पृ० ८४।
४. मंजूषा, १/९५।
५. मंजूषा, पृ० १५६।

'गतोऽस्तमर्कः' इस वाक्य के समान एक शब्द प्रकरणानुसार विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है।[१] पतञ्जलि को ज्ञाता शक्ति का उद्भावक या पोषक माना जाता है। जिसके अनुसार इन्हें यदि कोई सूत्र या भाष्य व्यर्थ प्रतीत होता है तो यह उसकी वैयर्थापत्ति का निराकरण करते हुए उस सूत्र या उस पद से एक ज्ञापन की उद्भावना करते हैं। व्यञ्जना के जो भी कार्य हैं, वे कार्य भाष्यकार ज्ञापना-शक्ति के द्वारा निष्पन्न करते प्रतीत होते हैं।[२]

परिभाषेन्दुशेखर के टीकाकार भैरव-मिश्र का मत है कि व्यर्थ होने पर जो सूत्र अथवा उनके पद हैं वे ज्ञापक कहे गये हैं, वे सभी व्यञ्जक हैं, अतः ज्ञापना-शक्ति ही व्यञ्जना शक्ति है।[३]

वैयाकरण व्यञ्जना शक्ति को पृथक् और स्फोटरूप में स्वतन्त्र शक्ति मानते हैं।[४] भर्तृहरि तथा हेलाराज ने स्फोट और ध्वनि में व्यङ्ग्य तथा व्यञ्जक भाव माना है। श्री रामप्रसाद त्रिपाठी का भी यही मत है।[५] कैयट ने शब्द-अर्थ में ज्ञाप्य-ज्ञापक सम्बन्ध का प्रतिपादन किया है। साहित्य-शास्त्रियों में मम्मट, विश्वनाथ, आनन्दवर्धन एवं अभिनव गुप्त ने विरूद्धवादी मतों का समाधान कर व्यञ्जना का स्वतंत्र अस्तित्व प्रतिपादित किया है।

नागेश ने लिखा है कि व्यञ्जना मुख्यार्थ की बाधा के ज्ञान की अपेक्षा न करके ज्ञान को उत्पन्न करती है। मुख्यार्थ से सम्बद्ध या असम्बद्ध, प्रसिद्ध या अप्रसिद्ध सभी प्रकार का अर्थ इसका विषय है। इसी आधार पर भर्तृहरि आदि ने निपातों को द्योतक तथा स्फोट को व्यञ्जक कहा है जिसका तात्पर्य है कि कहीं विशेष स्थल पर कथित पदसम्बन्धी शक्ति का व्यञ्जक होना ही मान्य है। व्यञ्जना का अनुभव शब्द, शब्दार्थ पद, पदांश, रचना तथा चेष्टादि में सर्वत्र ही होता है।[६]

नागेश के अनुसार वक्त्रादि की विलक्षणता के ज्ञान तथा प्रतिभा से उद्बुद्ध संस्कार विशेष को व्यञ्जना कहते हैं।

●●●

---

१. अयमन्तः शब्दोऽस्त्येवाक्यवाची, तद्यथा—वस्त्रान्तः वसनान्तः इति। वस्त्रावययो वसनावयव इति गम्यते। अस्ति च सामीप्ये वर्तते। तद्यथां—उदकान्तं गत इति। उदक समीपगत इति गम्यते। महा० १/२/१६।

२. एवं तर्हि सिद्धे सति यदलग्रहणे क्रियमाणे एकग्रहणं करोति लज्जापयत्याचार्य अन्यत्रवर्णग्रहणे जातिग्रहणं भवति। महा० १/२/४१।

३. किं च व्यर्थं, सद् यद्यत्सूत्रं पदं वा ज्ञापकमुच्यते। तत्सर्व व्यंजकमेव शब्दप्रमाणपर्यालोचनायाम्। परिभाषेन्दुशेखर टीका, परि० १।

४. अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन, पृष्ठ २६१।

५. इयं व्यञ्जनावृत्तिः व्याकरणशास्त्रप्राणभूता वास्ति एनां बिना व्याकरणदर्शनहृदयभूत स्फोटतत्त्वस्य प्रकाशनमेव न स्यात्। पाणिनीय व्याकरण प्रामाण्यवाद समीक्षा, पृष्ठ २३९।

६. मंजूषा, पृष्ठ १५६।

अष्टम अध्याय

महाभाष्यगत वाक्यदर्शन

वाक्यसम्बन्धी पतञ्जलि के विचार

विभिन्न ग्रन्थों में वाक्य के विविध लक्षण बतलाये गये हैं। इनमें कतिपय लक्षण सामान्य हैं तथा अन्य केवल पारिभाषिक। पतञ्जलि ने 'समर्थः पदविधिः'[१] सूत्र के अन्तर्गत कात्यायन के वाक्य-लक्षण पर विचार करते हुए अपना वाक्य-विषयक मन्तव्य प्रस्तुत कर दिया है। उपर्युक्त सूत्र को समास के साथ सम्बद्ध कर महाभाष्यकार ने वाक्य और समास का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है कि वाक्य भी एकार्थक होता है तथा समास भी। किन्तु प्रत्येक वाक्य समास में परिवर्तित नहीं किया जा सकता तथा प्रत्येक वाक्य समास का समानार्थक भी नहीं होता।[२] महाभाष्यकार ने उपर्युक्त सूत्र में 'समर्थः' पद की व्याख्या करते हुए लिखा है कि पृथक् प्रर्‌त होने वाले अर्थों का एकार्थी-भाव बन जाना ही समर्थ बनना कहा जाता है।[३]

यहाँ पृथक् अर्थ का अभिप्राय पद से है, क्योंकि पद ही पृथक् अर्थ को वहन करते प्रतीत होते हैं किन्तु वाक्य में प्रयोग होने पर उनकी पृथगर्थता या पृथक् सत्ता समास हो जाती है। इसके समास होने के उपरान्त ही समर्थ भावना की उत्पत्ति होती है।

वाक्य पदों का वह समूह है, जहाँ आ कर पद अपनी पृथक् स्थिति का परित्याग कर देते हैं।

यहाँ उपर्युक्त विचारक्रम में पतञ्जलि के एकार्थीभाव का तात्पर्य है कि समास सम्पूर्ण एकार्थ ही होता है। अतः पूर्वोक्त कथन में एकार्थीभाव की समस्या ही नहीं रह जाती। वाक्य की स्पष्टता के प्रसंग में महाभाष्यकार ने लिखा है कि 'वाक्य में पृथक् पदों के प्रयोग का अभिप्राय कुछ विशेष बातों पर बल देने से होता है, जैसे विभक्ति प्रत्ययों की पृथक्ता, शब्दों का पृथक् महत्त्व, एक-दूसरे से सम्बन्ध, उच्चारण, स्वर की रक्षा, पद प्रयोग की असंदिग्धता, वचनादि की स्पष्टता, विशेषण का स्वतंत्र प्रयोग तथा एकाधिक सम्बद्ध वस्तुओं का एक ही स्वामी से सम्बन्ध।'[४]

---

१. अष्टाध्यायी, २/१/१।

२. अष्टाध्यायी, २/१/१।

३. यत्र न गमकोहेतुर्भवति तत्र वृत्तिः इत्यादि। महा० २/१/१।

४. सुब्लोपो व्यवधानं यथेष्टमन्यतरेणाभिसम्बन्धः स्वरः।
संख्याविशेषो व्यक्ताभिधानमुपसर्जनं विशेषणं च योगः॥ महा० २/१/१।

इस प्रकार वार्तिककार की परिभाषायें महाभाष्यकार की वाक्य परिभाषा के समक्ष पंगु रहती हैं। पतञ्जलि ने वाक्य की परिभाषा में शब्दों की संख्या पर बल नहीं दिया है। उनके मतानुसार शब्दों से अर्थ का जन्म नहीं होता ; अपितु शब्दों का जन्म अर्थ से होता है।[१] वाक्य के एकार्थीभाव होने पर भी शब्द अपनी स्वाभाविक प्रक्रिया से ही अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं, केवल वचन या वक्तव्य विशेष से ही उनका अर्थ विशेष निश्चित नहीं होता।[२] प्रत्यय आदि से कोई विशिष्ट अर्थ शब्दों में प्रविष्ट नहीं होता, प्रकृति का अर्थ पूर्ववत् ही रहता है। धातु, प्रातिपदिक आदि का अर्थ किसी विशेष मनुष्य द्वारा निश्चित नहीं किया जाता।[३]

यदि निश्चित शब्दों के प्रयोग से ही निश्चित अर्थों की उपलब्धि हो तब एक नवीन समस्या उत्पन्न हो जायेगी। भाषा में अनेक शब्द निरर्थक होते हैं, तथा अनेक अर्थ शब्दों के माध्यम के बिना ही इंगितादि से ही कह दिये जाते हैं।[४] इसका तात्पर्य है कि वाक्य का मुख्य अभिधेय वाच्य अर्थ को श्रोता तक पहुँचाना है, उसके लिए निश्चित शब्द राशि का प्रयोग करना नहीं।

अत: यहाँ महाभाष्यकार द्वारा शब्द की परिभाषा समर्थ और एकार्थीभूत के रूप में करके भी इनका बल वार्तिककार की भाँति शब्द समूह पर नहीं है। पतञ्जलि ने कात्यायन के लम्बे वाक्यलक्षण की अपेक्षा तिङ् वाले पदसमूह को वाक्य कहना उपयुक्त माना है। एकतिङ् 'प्रविश' यह कहने पर 'गृहम्' इस कर्मकारक का आक्षेप स्वत: हो जाता है। वाक्यस्वरूप के प्रसंग में पतञ्जलि की विशिष्ट भावना और उसका बल अर्थ की समग्रता तथा एकाग्रता पर है। पतञ्जलि वाक्य में प्रथम दो अर्थों को अनिवार्य मानते हैं, जबकि परवर्ती शेष दो अर्थों को वे समास की विशेषता मानते हैं।

शब्दों की नित्यता बताते हुए महाभाष्यकार ने कहा है कि व्याकरण वाक्य के साधुत्व का अन्वाख्यान करता है।[५] ऐसा उन्होंने सामर्थ्य का विवेचन करते हुए कहा है। दूसरे स्थान पर वे कहते हैं कि किसी वाक्य में कोई पद कर्त्ता, कर्म आदि के रूप में आता है, अत: वाक्य ही सर्वोपरि स्थान रखता है ; क्योंकि पद सामान्य अर्थ में वर्तमान रहते हैं। और जब वे विशेष अर्थ में अवस्थित होते हैं तब वाक्यार्थ बनते हैं अर्थात् वाक्यार्थ पदार्थ-संसर्ग में घटित होता है।[६] प्रदीपकार कैयट ने कहा है कि

---

१. नहि शब्दकृतेन नामार्थं भवितव्यम्। अर्धकृतेन नामशब्देन भवितव्यम्। महा० १/१/१।
२. अद्यैतस्मिन् नैकार्थी भावकृते विशेषे किं स्वाभाविकं शब्दैरर्थाभिधानमाहोस्विद् वाचनिकम्? स्वाभाविकमित्याह। महा० २/१/१।
३. को हि नाम समर्थोधातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामार्थानादेष्टुम्। न चैतन्मन्तव्यं प्रत्ययार्थे निर्दिष्टे प्रकृत्यर्थोऽनिर्दिष्ट इति। महा० २/१/१।
४. बहवो हि शब्दा: येषामर्था: न विज्ञायन्ते। अन्तरेणापि खल्वपि शब्दप्रयोगे बहवोऽर्था: गम्यन्तेऽक्षिनिकौचै: पाणि विहारैश्च। महा० २/१/१।
५. महाभाष्य, पा०सू० ४/१/८२।
६. एषां पदानां सामान्ये वर्तमानानां यद् विशेषवस्थानं स वाक्यार्थ:। महा०, पा०सू० १/२/४५।

विशिष्ट अर्थ का वाचक वाक्य ही नित्य है जो ध्वनियों से व्यक्त होता है। भर्तृहरि ने इसी तथ्य को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

अशाब्दो यदि वाक्यार्थः पदार्थोऽपि तथा भवेत्।
एवं च सति सम्बन्धः शब्दस्यार्थेन गृह्यते॥[१]

इसका तात्पर्य है कि जिस प्रकार पदों की सार्थकता से वर्ण सार्थक होते हैं, उसी प्रकार अर्थ की सार्थकता से पद सार्थक होते हैं। यह अलग बात है कि कभी-कभी एक वर्ण ही पूरा वाक्यार्थ बतला देता है। ऐसा बुद्धि में पदार्थ-सम्बन्ध होने पर होता है। वाक्य की सार्थकता में पद द्वारा जितने अर्थ का बोध हो जाता है वह पद उतने अर्थ का वाचक माना जाता है। परन्तु यह तभी होता है जब पद वाक्य में स्थित है।[२]

जिस प्रकार पदार्थ का बोध प्रत्येक वर्ण में नहीं होता उसी प्रकार वाक्यार्थ का बोध अलग-अलग पदों में असंवेद्य रहता है।[३] अतः जिस प्रकार पद में प्रकृति और प्रत्यय के विभाग होते हैं उसी प्रकार वाक्य में पदों का अपोद्धार होता है अर्थात् वह वाक्य में पृथक् एक स्वरूप मान लिया जाता है।[४] वाक्यार्थ पदार्थ मात्र नहीं होता है, वह पदार्थ समूह से अधिक होता है ; क्योंकि उसमें अन्वयांश सम्मिलित होता है।[५] यह कल्पना वैसी ही है जैसा कि वेदान्त में आत्मा के पाँच कोशों की कल्पना है, तैत्तिरीय उपनिषद्, भृगुवल्ली में आनन्दरूप ब्रह्म की प्रतिष्ठा से पूर्व अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द इन पाँच कोशों को ब्रह्म बताया गया है और फिर सर्वातिक्रान्त, सर्वव्यापी ब्रह्म तत्त्व को बताया गया है। पद की परिकल्पना में यह विचार पाया जाता है।[६] इसी तथ्य को नागेश जी ने भी समझाया है और वाक्यजाति को प्रतिष्ठित किया है।[७] सारांश यह है कि कोई भी वाक्य पृथक् रहकर सार्थक नहीं होता। वाक्यों में भी पूर्वापरभाव रहता है। इससे वाक्यत्व जाति बनती है, जिसे महावाक्य कहते हैं। इस महाकाव्य में बैखरी शब्द नहीं आते। वाक्य का कार्य अनेक प्रकार के इंगित कृत्य भी करते हैं, जैसे आँख सिकोड़ना, हाथ हिलाना आदि। वहाँ बैख़री शब्दों का लोप समझना चाहिये।[८] लोप का अर्थ पाणिनि के अनुसार अभाव नहीं है पाणिनि व्याकरण के अनुसार—

अदर्शन लोपः।[९]

---

१. वाक्यपदीय, २/१६।
२. वाक्यपदीय, २/४०, ४१।
३. वाक्यपदीय, २/६०।
४. यथा पदे विभज्यते प्रकृतिप्रत्यादयः। अपोद्धारस्तथा वाक्ये पदानामुपवर्ण्यते॥ वाक्यपदीय, २/१०।
५. महा०, पा०सू०, २/३/४६ और वार्तिक २।
६. वैयाकरण भूषण-सार ६९।
७. लघु मञ्जूषा, पृ० ४७३-७४।
८. महा०, पा०सू० २/१/३४।
९. पा०सू० १/१/६०।

सत् पदार्थ के अदर्शन को लोप कहते हैं। कात्यायन के अनुसार वाक्य उसे कहते हैं जिसमें क्रिया हो तथा उसके साथ अव्यय, कारक और विशेषणों में से एक या सभी हों।

अकारक 'ओदनं पचति'। सकारक विशेषण—'मृदु विशदं ओदनं पचति'। एकतिङ्—'बहिः ब्रूहि।' कात्यायन के इस वाक्य-लक्षण में संशोधन करते हुए पतञ्जलि ने लिखा है कि क्रिया को वाक्य कहते हैं, उसके साथ कोई भी विशेषण हो; क्योंकि प्रस्तुत वाक्य लक्षण में भी विशेषण (अव्यय, कारक) कहे गये हैं, वे सभी क्रिया के विशेषण ही हैं।[१]

कैयट के अनुसार यहाँ पर आख्यात शब्द का अर्थ क्रिया-प्रधान है, अतः तिङ्न्त के स्थान पर कृदन्त क्रिया, जो कि क्रिया प्रधान होती है, उसके होने पर भी उसे वाक्य कहते हैं। अतः 'देवदत्तेन शयितव्यम्' जैसे वाक्यों में क्रिया तिङ्न्त न होकर कृदन्त होने पर वाक्य-लक्षण चरितार्थ हो जाता है।[२] एकतिङ् के विषय में कात्यायन का अभिप्राय है कि 'एक शब्द संख्या का वाचक नहीं' अपितु 'समान अर्थ' का बोधक है। अतः एकार्थक तिङ्न्त वाक्य होता है। इस आधार पर वाक्य में एकार्थक दो तिङन्त भी हो सकते हैं। अतः एक तिङ् में इन्होंने बहुव्रीहि समास निर्दिष्ट किया है। इसका सम्यक् अर्थ इस प्रकार होगा—जिस समुदाय में तिङन्त पद अर्थात् क्रिया होता है, उसे वाक्य कहते हैं।[३]

वाक्यार्थबोध सम्बन्धी पतञ्जलि के विचार

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने वाक्यार्थ सम्बन्धी अपने विचार को दो स्थलों पर प्रकट किया है—प्रथम तो यह कि पद सर्वप्रथम सामान्य अर्थ को व्यक्त करते हैं, उसके पश्चात् ही विशेष अर्थ को व्यक्त करते हैं। इस प्रकार पद का सामान्य से विशेष अर्थ में अवस्थित होना ही वाक्यार्थ है।[४] कैयट ने इस भाव को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि वाक्यार्थ पदार्थ संसर्ग रूप हैं। वाक्य ही मुख्य शब्द है, और वाक्यार्थ ही मुख्य शब्दार्थ।[५] एक अन्य स्थान पर इन्होंने स्पष्ट किया है कि 'जो कुछ आधिक्य रूप में सामने आता है, वही वाक्यार्थ है, प्रातिपदिकार्थों में क्रिया के योग में क्रियाकृत विशेष उत्पन्न हो जाते हैं, वही आधिक्य हैं, वही वाक्यार्थ हैं।[६] महाभाष्यकार ने प्रथम वाक्य

१. आख्यातं सविशेषमित्येव। सर्वाणि होतानि क्रियाविशेषणानि। महा० १/१/२।
२. आख्यातेन च क्रियाप्रधानत्वं लक्ष्यत इत्यतिङन्तेष्वपि देवदत्तेन शयितव्यम् इत्यादिषु वाक्यत्वं सिद्धयति। प्रदीप, महा० वही २/१/१।
३. एक शब्दः समान वचनो न तु संख्यावाची। बहुव्रीहिश्चायम्। प्रदीप, महा० २/१/१।
४. यावद् ब्रह्म तिष्ठतं तावत् वाक्। ऋग्वेद १०/११४/८।
५. पदार्थः संसर्गरूपे इत्ययर्थः इत्यर्थः। अतएव वाक्यमेव मुख्या शब्दः वाक्यार्थः एवं मुख्य शब्दार्थः। प्रदीप महा० १/२/४५।
६. (क) यत्राधिक्यं वाक्यार्थः सः। महा० २/३/५०।
(ख) प्रातिपदिकार्थानां क्रियाकृतविशेषा उपजायन्ते। महा० २/३/५०।

लक्षण में यह स्पष्ट किया है कि पदार्थ से वाक्यार्थ में अन्य उपलब्धि नहीं होती, यह कथन असंगत है। क्योंकि वाक्य में पदों के अर्थों के सम्बन्ध की उपलब्धि होती है। यहाँ 'देवदत्त' यह कहने पर कर्त्ता का निर्देश होता है, कर्म, क्रिया और गुण अनिर्दिष्ट हैं। 'गाम्' कहने पर कर्म का निर्देश होता है, कर्त्ता, क्रिया और गुण अनिर्दिष्ट रहते हैं। 'अभ्याज' कहने पर क्रिया निर्दिष्ट होती है कर्त्ता, कर्म और गुण अनिर्दिष्ट रहते हैं। 'शुक्लां' कहने पर गुण निर्दिष्ट होता है तथा कर्त्ता, कर्म और क्रिया अनिर्दिष्ट रहते हैं। अतः 'देवदत्तः गामभ्याज् शुक्लाम्' यह पूर्ण वाक्य कहने पर कर्त्ता, कर्म, क्रिया और गुण सभी का निर्देश होता है।

इस प्रकार सामान्य अर्थों में वर्तमान इन पदों का जो विशेष अर्थ में नियत करना है, वही वाक्यार्थ है।[1] महाभाष्यकार का अभिप्राय यह है कि एक-एक पद के उच्चारण करने पर एक-एक कर्त्ता, कर्म, क्रिया और गुण ही प्रतीत होते हैं। समुदित वाक्य के उच्चारण से कर्त्ता, कर्म, क्रिया और गुण के परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान होता है, और उस सम्बन्ध के ज्ञान से वाक्य में उच्चरित, कर्त्ता, कर्म, क्रिया और गुण से भिन्न कर्त्ता, कर्म, क्रिया और गुण की व्यावृत्ति होती है। यह व्यावृत्ति रूप अर्थ ही वाक्यार्थ है, पतञ्जलि के शब्दों में यही आधिक्य है जो वाक्यार्थ होता है।

एक स्थान पर महाभाष्यकार ने स्पष्ट किया है कि 'गोपालक' गाय पालने वाले को कहते हैं ; किन्तु वह किसी की कृत्रिम संज्ञा भी हो सकती है। जो उस संज्ञा को जानता है वह तो उस नाम वाले व्यक्ति को बुला लाता है ; परन्तु प्रकरण न जानने वाले ग्रामीण से कहा जाय—'गोपालक को बुलाओ' तो वहाँ दोनों ही अर्थ लिये जा सकते हैं। अधिक सम्भावना यही रहती है कि बुलाने वाला चरवाहे के पास जायेगा।[2] स्पष्ट है कि वाक्यार्थ बोध तो उस ग्रामीण को ही हुआ, उसने वक्ता का तात्पर्य न लेकर भी वाक्य का तात्पर्य लिया।

नागेश के अनुसार तात्पर्य का उपयोग प्रामाण्य-निश्चय द्वारा प्रवृत्ति में होता है। वाक्यार्थ का प्रामाण्य ज्ञान पर अवलम्बित है कि वाक्य का वक्ता आप्त है, परन्तु बोध होने में कोई बाधा नहीं है।[3] व्याकरण-दर्शन शब्द की ही तत्परता को लेता है। इसमें भी उसका शब्द ब्रह्मवाद काम करता है। शब्द स्वतः अर्थ से अभेद रखता है, इतना ही बोध में पर्याप्त है। प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य पर विचार बोध के अनन्तर होने वाली घटना है। वस्तुतः शब्द स्वतः प्रमाण होता है। अप्रामाणिकता ज्ञान में होती है, जो आप्त और अनाप्त के ज्ञान पर अवलम्बित है।[4] मीमांसा में ज्ञान को स्वतः प्रमाण नहीं

---

१. पदार्थाभिसम्बन्धस्योपलब्धिमिव वाक्ये एतेषां पदानां सामान्ये वर्तमानानां यद् विशेषेऽवस्थानं स वाक्यार्थः। महा० १/२/४५।

२. महा०, पा०सू०, १/१/२३।

३. लघु मञ्जूषा, पृष्ठ ५३४।

४. लघु मञ्जूषा, पृष्ठ ५३६।

माना जाता है, जबकि वैयाकरण शब्द को 'स्वतः प्रमाण' मानता है। नैयायिक वाक्यार्थ की संघटना में संसर्ग-मर्यादा को महत्त्व देते हैं। तदनुसार शाब्दबोध में एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ का संसर्ग, संसर्ग-मर्यादा से भासित होता है।[१] यह संसर्ग-मर्यादा मूलतः आकांक्षा है, जिसके साथ योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य का योग रहता है। इन चारों तथ्यों पर विभिन्न मतों में कुछ अन्तर से विचार किया जाता है। मीमांसकों के अनुसार प्रत्येक अर्थ पद-द्वारा अभिहित होकर वाक्यार्थ में अन्वित होता है, अतः इस मत को अभिहितान्वयवाद कहते हैं। महाभाष्यकार का वाक्य-लक्षण इसी अभिहितान्वयवाद का मूल स्रोत माना जा सकता है।

मीमांसक प्रभाकर, कुमारिल के विरुद्ध अन्वित पदार्थों का ही पदों द्वारा अभियान स्वीकार करते हैं; अतः उनके मत को अन्विताभिधानवाद कहा जाता है। दोनों अन्वय को वृत्ति-भाष्य मानते हैं। कुमारिल के मत में वह तात्पर्य-वृत्ति से भासित होता है जबकि प्रभाकर के मत में पदार्थ और अन्वय दोनों अभिधावृत्ति से भासित होता है। इस प्रकार दोनों वृत्ति भास्यतावादी हैं।

अखण्ड वाक्य का अखण्ड वाक्यार्थ ही व्याकरण-सम्मत है, अतः विविध मतभेद इस मान्यता में विलीन हो जाते हैं, जिस प्रकार पृथक्-पृथक् विषयों में कार्य करने वाली इन्द्रियों का देह से पृथक् कोई कार्य नहीं हो सकता, उसी प्रकार पृथक् अर्थ के बोधक पद वाक्य से बहिर्भूत होकर अर्थवान् नहीं हो सकते।[२]

वस्तुतः सभी शब्द सत्ता का अभिधान करते हैं, तभी क्रिया-कारक सम्बन्ध जुटता है। बिना इसके आकांक्षा की निवृत्ति नहीं होती।[३] शब्द की यह महिमा है कि वह एक ही अर्थ में अनेकता ला सकता है, जैसे—चलते हुए पढ़ो अथवा पढ़ते हुए चलो। वहाँ अर्थ एक है, शब्द ने भेद कर दिया।[४]

पतञ्जलि के अनुसार वाक्यस्फोट का स्वरूप

आचार्य पाणिनि ने 'समर्थः पद विधिः'[५] सूत्र द्वारा यह निर्दिष्ट किया है कि पद सम्बन्धी विधियों में पद प्रयोग किसी एकार्थ या सामर्थ्य की उपस्थिति में ही सम्भव हो पाता है। वाक्यार्थ एक है, पद-विधि वाक्यार्थ की एकता को विभाजित करके स्पष्टीकरण करने का प्रयास करती है। पदविधि से तात्पर्य पदों की रचना नहीं ; अपितु उसका अर्थ हैं—पद-विधान, पद-योजना, तथा पद-प्रयोजन। पदों का पृथक्-पृथक् अस्तित्त्व देखने में भले ही सत्य प्रतीत हो पर अर्थ-भावना की दृष्टि से वे समवेत होकर संहितार्थ या सामर्थ्य को ही प्रगट करते हैं। अर्थ की इस सामर्थ्य या संहिता का

---

१. शाब्दबोधे चैकपदार्थे अपरपदार्थस्य संसर्गः संसर्गमर्यादया भासते। व्युत्पत्तिवाद, पृ० १।
२. वाक्यपदीय, २/४२०-४२१।
३. वाक्यपदीय, २/४२७।
४. वाक्यपदीय, २/४४९।
५. अष्टाध्यायी २/१/१।

निर्माण पदरूपों में अवश्य प्रतीत होता है। 'पदप्रकृतिः संहिताः'[१] का तात्पर्य भी यही प्रतीत होता है कि पदों की सत्ता और जन्म संहिता पर आधारित है। संहिता के अभाव में पदों का अस्तित्त्व ही अनुपयोगी है। पाणिनि के 'समर्थ पदविधिः' सूत्र की व्याख्या में महाभाष्यकार ने स्पष्ट किया है कि 'पृथगर्थानां पदानामेकार्थीभावः सामर्थ्यमित्युच्यते।'[२]

अर्थात् जहाँ पद पृथक्-पृथक् हों और उनका अर्थ पार्थक्येन प्रतीत होता हो, वहीं ऐसी स्थिति का सामने आना सम्भव है, जिसमें पदों का अपना अर्थ मिट जाये। अर्थात् पद पृथक्-पृथक् अर्थ का वहन करने में प्रतीत होते हैं, किन्तु वाक्य में प्रयुक्त होने पर उनकी पृथगर्थता या पृथक् सत्ता समाप्त हो जाती है और तब समर्थ भावना या एकार्थता उत्पन्न होती है। यही पदों में अपनेपन का नष्ट हो जाना ही एकार्थीभाव का मूल कारण है। इसी को सामर्थ्य कहा जाता है। अतः इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ आकर पद अपनी पृथक् सत्ता खो देते हैं, वहीं वाक्य की सत्ता उत्पन्न हो जाती है। पतञ्जलि को भी यही मत अभीष्ट है कि पद का प्रयोजन वाक्यार्थ की प्रतीति के लिए है। अर्थात् वाक्य ही भाषा की अन्तिम इकाई है, पद नहीं। व्याकरण भी पदों की रचना का विवेचन वाक्य में उनकी सत्ता मानकर ही करता है, अर्थात् वाक्य के परिप्रेक्ष्य में ही पदरचना पर व्याकरण विचार करता है। भाष्यकार ने बताया है कि 'वाक् वर्णों' में ही उन वर्णों के नाद के अनुसंहार की बुद्धि से पद का ग्रहण होता है। प्रत्येक वर्ण आविर्भाव तथा तिरोभाव लेता हुआ पद-स्वरूप नहीं बन पाता, अतः प्रत्येक वर्ण में संकेत नहीं देखा जाता। प्रत्येक वर्ण को यदि अलग-अलग कर दिया जाय तो वह पद-स्वरूप नहीं कहलाता। सहकारी वर्णों के साथ मानो वह विश्वरूपता प्राप्त कर लेता है। और फिर क्रमानुरोधी अनेक वर्ण अर्थ-संकेत से अविच्छिन्न होकर अपनी असीम अभिधान-शक्ति को तिरोहित करके सीमित अर्थमात्र दे पाता है। भाष्यकार का अभिप्राय है कि वर्णों में अनन्त शक्ति निहित रहती है, जबकि वर्ण संघात रूप में अर्थ विशेष के प्रति अभ्यास रूप संकेत निर्धारित हो जाता है। इस संकेत बुद्धि से यह अभिप्राय निकलता है कि इतना वर्ण-संघात इस अर्थ का वाचक है। तात्पर्य यह है कि शक्ति वर्ण में होती है। (जबकि नैयायिक पद में और वैयाकरण वाक्य में शक्ति मानते हैं) तथा अविद्याजनित संकेत पद का एक भाग है। यह संकेत नैयायिकों की शक्ति नहीं है प्रत्युत अध्यासरूप स्मृति है जिसका स्वरूप यह होता है—

'गौरिति शब्दो, गौरित्यर्थो, गौरिति ज्ञानम्'।

इस अविभक्त इतरेतराध्यास में जिसे पार्थक्य बोध हो जाता है वह सर्वज्ञ हो जाता है। सभी पदों में वाक्य-शक्ति रहती है। 'वृक्षः' कहने पर 'अस्ति' जुड़ा रहता है ; क्योंकि कोई पदार्थ सत्ता नहीं छोड़ता। सत्ता क्रिया है जो बिना कारक के नहीं

---

१. ऋग्वेद प्रातिशाख्य, २/१ तथा निरूक्त १/१७/४।

२. महाभाष्य २/१/१।

होती। इसी प्रकार यदि 'पचति' कहा जाय तो उसके साथ सभी कारक जुड़ जाते हैं। कुछ कारकों को लेकर वाक्य में पद-शक्ति को सीमित कर दिया जाता है। उक्त इतरेतराध्यास में वितर्क या विकल्प को जन्म मिलता है। उसका परित्याग करने पर शब्द वर्ण मात्र बचता है, और उन दोनों में पृथक् ज्ञानरूप आत्मा की अवस्थिति हो जाती है।

भारतीय वैयाकरणों एवं दार्शनिकों ने प्रधानतः स्फोट को वर्ण, पद, वाक्य, अखण्डपद, अखण्ड-वाक्य, वर्ण-जाति, पद-जाति, वाक्य-जाति के रूप में मुख्यतः आठ प्रकार का माना है, इनमें पूर्व के सात साधन हैं, आठवाँ 'वाक्य जाति' स्फोट साध्य हैं; यही आठवाँ पूर्ण सत्य है। यह अनिवर्चनीय, साध्य तथा ज्ञेय है। व्याकरण जहाँ तक निर्वचन या विवेचन कर सकता है वह सप्तम पर जाकर समाप्त हो जाता है। पूर्व के सातों में सत्यांश हो सकता है पर उन्हें ही सत्य मान लेना भ्रान्ति है, अविद्या है। अष्टम स्फोट की प्राप्ति में साधन हैं, उन्हें साध्य मानना अज्ञान है। मीमांसकों तथा नैयायिकों के 'वाक्यजाति स्फोट' पर जो भी आक्षेप हैं, उन सभी का निराकरण करते हुए भट्टोजिदीक्षित तथा कौण्डभट्ट ने लिखा है कि अन्तिम निष्कर्ष में वाक्य स्फोट ही सिद्ध होता है।[१]

वाक्यस्फोट एवं शब्दब्रह्म का स्वरूप विचार

'वाक्यस्फोटोऽतिनिष्कर्षे तिष्ठतीति मतस्थितिः।'[२]

व्याकरण मत में 'वाक्यस्फोट' ही प्रमुख सिद्धान्त है। इसका एक कारण है कि वाक्य में ही पदों का स्वरूप निर्धारित होता है। दूसरा तर्क यह है कि 'दधीदमस्ति' इस संस्कृत वाक्य को लिया जाय तो कोई पद स्वरूपतः पृथक् स्थिति नहीं रखता। सन्धि-विच्छेद करने पर ही 'दधि', 'इदम्', 'अस्ति' ये पद स्पष्ट होते हैं, परन्तु अर्थबोध में सन्धि-विच्छेद करके पद-निर्धारण किया जाता है तो ऐसा नहीं प्रतीत होता है।

वेदों के संहितापाठ में अर्थ-बोध हेतु सम्पूर्ण वाक्य ही लिया जाता है ; क्योंकि पद-पाठ के उदा दि स्वर संहिता-पाठ में नहीं रहते। अतः पद-पाठ से संहिता-पाठ का वाक्य भिन्न होता है, इसीलिए दीक्षित जी ने वाक्यस्फोट को ही व्याकरणमत में सिद्धान्तित किया है।[३]

वाक्पदीय के अनुसार वाक्य में पद-विभाग कल्पित हैं। अतः पदस्फोट भी कल्पित हैं।[४] पद-पदार्थ के संस्कार इतने प्रबल हो जाते हैं कि पदस्फोट की सापेक्ष

१. (क) वस्तुतस्तु वाचकता स्फोटैकनिष्ठा शब्दकौस्तुभ, पृ० ८।
(ख) वाक्यस्फोटोऽतिनिष्कर्षे तिष्ठतीति मतिस्थितिः। वैयाकरणभूषण सार, का० ६१।
२. स्फोटवाद, पृ० १४-१५।
३. वैयाकरणभूषण सार, कारिका ६१।
४. शब्दकौस्तुभ, प्रथम भाग, पृष्ठ ७।

मान्यता दी जाती है। बहुत से वाक्य एकपदात्मक होते हैं। वहाँ पदस्फोट ही वाक्यस्फोट बन जाता है।[१] यथा—'दधि भोक्तव्यम्' एक वाक्य है और यदि कहीं अनेक प्रकार की भोज्य सामग्री उपस्थित है तब प्रत्येक के लिए अनेक क्रियाओं की सम्भावना है। उस दशा में केवल 'दधि' पद कहा जाय तो अध्याहार किसका होगा? न्याय मत से यहाँ 'भोक्तव्यम्' पद का अध्याहार होना चाहिए, परन्तु अद्धि, भुङ्क्ष्व, जग्धव्यम्, भोज्यम्, भक्षणीयम्, भाक्ष्य आदि अनेक पद अध्यायहार के लिए उपस्थित हों तो किसे लेकर वाक्य पूरा किया जाय? इसी प्रकार केवल 'भोक्तव्यम्' कहा जाय तो किस कारक पद का अध्याहार होगा? मीमांसा में अर्थ का अध्याहार मान्य है। वहाँ अर्थ की स्मृति में वाक्यार्थ की पूर्ति मानी जाती हैं। इन मतों को अमान्य करते हुए भर्तृहरि ने कहा है—

एकदेशात् स्मृतिर्भिन्ने संघाते जायते कथम्।
कथं प्रतीयमानः स्याच्छब्दोऽर्थस्याभिधायकः॥[२]

अर्थात् वाक्य के एक अवयव से उत्पन्न पदस्मृति या अर्थस्मृति (अध्याहार) भिन्न संघातरूप पद या अर्थ में कैसे हो सकती है?

तात्पर्य यह है कि एक देश से सम्पूर्ण वाक्य या वाक्यार्थ का अध्याहार से बोध तब तक असम्भव है जब तक पद को ही वाक्य न माना जाय। यह कहा जाय कि पद अनुमित होता है, उस दशा में अर्थ भी अनुमित होगा, तो कैसे सम्भव होगा कि अनुच्चरित पद अनुमान-लभ्य होकर अर्थ का वाचक है; क्योंकि उच्चरित वाक् से ही वाच्य-वाचक सम्बन्ध बन सकता है।

नागेश ने यह तर्क रखा है कि शब्द से शब्द का अध्याहार नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द तो अपना अर्थ देने में लग जाता है, अतः शब्दान्तर का आनयन नहीं कर सकता। यदि शब्द से अर्थ का अध्याहार माना जाय जैसा कि मीमांसकों का मत है तो भी यह संगत नहीं है ; क्योंकि एक शब्द दूसरे शब्द के अर्थ को कैसे ला सकता है।[३] ऐसी स्थिति में जहाँ एक पद से वाक्यार्थबोध होता है, वहाँ वह पद पूरा वाक्य होता है और उसी आधार पर वाक्यस्फोट की व्यवस्था है।

वाक्यस्फोट के विषय में प्रतिपक्षियों द्वारा यह आक्षेप किया जाता है कि निरवयव स्फोटात्मक शब्द है तथा वाक्य भी शब्द है, तब उसके पदरूपी अवयव भी नहीं होने चाहिए। यदि उसके पदरूपी अवयव हैं, तो पद के भी वर्णरूपी अवयव मानना चाहिए।

इसका समाधान यह है कि ध्वनिरूपी उपाधि के कारण वर्ण एवं पद का आभास होता है तथा इसी उपाधि-भेद के कारण वर्णभेद के अभ्यास से विचलित

---

१. परमलघुमञ्जूषा, पृष्ठ ३९-३३।
२. लघुमञ्जूषा, पृष्ठ ४३२।
३. वाक्यपदीय, २/३६३।

बुद्धि वालों को समझाने के लिए अखण्डपदस्फोट का निर्देश किया गया है, अखण्ड वाक्य ही अखण्ड वाक्यार्थ का बोधक है। जैसे पद के अवयव नहीं हैं उसी प्रकार वाक्य के अवयव भी नहीं हैं। यदि अवयवों की कल्पना करेंगे, तो वाक्य के अवयव पद, पद के वर्ण, वर्णों के अवयव उनके प्रविभाग, पुनः उनके भी अवयव, इस प्रकार अव्यवस्था एवं अनन्तता के कारण क्या व्यवस्था होगी? एक घटना के आकारवाली वाक्यार्थ बुद्धि होती है, उसी का ज्ञान होता है, यह वाक्य द्वारा ही सम्भव है। अतः वाक्य में पदों का विभाजन काल्पनिक है, इसीलिए पद-विभाग की संख्या कोई दो मानते हैं कोई चार तथा कोई पाँच।[१] यदि पद विभाग वास्तविक होता है तो उसका निश्चित एवं असंदिग्ध विभाग एवं रूप होता है। एक ही पद कहीं पर संज्ञारूप है, तथा कहीं क्रियारूप, जैसे—अश्वः (घोड़ा) कर्त्ता है। अश्वः (गया) 'शिव्' धातु का लुङ्लकार का मध्यम पुरुष एकवचन का रूप है। 'कालेनदन्तिनागाः' इस वाक्य का तीन प्रकार से विभाजन किया जा सकता है—

१. कालेन दन्तिना अगाः (तू काले हाथी से गया)
२. काले नदन्ति नागाः (समय पर हाथी चिंघाड़ते हैं)
३. काले नदन्ति नागाः (समय पर सर्प ध्वनि करते हैं)

इस प्रकार निश्चित नियम न होने से सिद्ध होता है कि पद विभाजन काल्पनिक है।

एक ही शास्त्र में तत्त्व, शब्दत्व अविभाग अद्वितीय स्फोट-स्वरूप आदि विद्यमान रहते हैं। इसी को शब्दब्रह्म की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। यह शब्दब्रह्म अद्वितीय एवं अनादि है, जो अविद्या की वासना के कारण उपाधि भेद से अर्थरूप से परिणत होता है। भर्तृहरि ने शब्दब्रह्म के स्वरूप का निरूपण करते हुए लिखा है कि—वह ब्रह्म आदि और अन्त से रहित है, वहीं अक्षर या ओंकार के नाम से जाना जाता है, जिससे जगत् की प्रक्रिया या विकार अर्थ में परिणति होती है। यह ब्रह्म का सामान्य लक्षण है।[२]

उत्पत्ति और विनाश से रहित विकल्पों से परे बैखरी वाणी का निमित्त होने से वर्णरूप तथा ध्वनि के माध्यम से सर्वव्यापक ब्रह्मस्वरूप है। इसी शब्दब्रह्म से जगत् का व्यवहार घट-पटादि अर्थरूप में अन्यथाभूत प्रतीत होता है। यह शब्दत्व शब्दमूलभूत परावाणी ही है। उसी ब्रह्म में सर्वजगत् की सभी प्रक्रियाएँ, उत्पत्ति, स्थिति एवं लय अथवा उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, अपक्षय एवं नाश रूप क्रियाएँ विवर्तित होती रहती हैं। वह शब्दात्मा ब्रह्म समस्त परिकल्पों घट-पटादि भेद-विकल्पों के प्रकाश में रहते हुए भी उनसे परे है तथा वहीं तर्क, आगम, अनुमान द्वारा प्रकृति,

१. पदं केश्चिद् द्विधा भिन्नं चतुर्थो पञ्चधापि वा।
अपोद्धृत्येववाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिवत्॥ वाक्यपदीय, ३/१।
२. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ वाक्यपदीय, १/१।

परमाणु, कर्मज्ञान, शिवादि अनेक रूपों में कल्पित हुआ है। अर्थात् वह शक्तियों के योग से ही भिन्न-भिन्न रूपों में अवभासित होता है, उसकी शक्ति माया ही है। वह शक्ति उस सत्ता से अतिरिक्त सत्तावती नहीं है, फिर भी पृथक् की तरह भासित नहीं होता है, जैसा कि 'श्वेताश्वत्तरोपानिषद्' से ज्ञात होता है—

'परास्य भक्तिः विविधैव भूयते स्वाभाविके ज्ञानबलक्रिया च।'

अर्थात् वह ब्रह्म 'एकोऽहं बहुः स्याम्' की कल्पना से मनुष्य, पशु, सरीसृप आदि रूपों में भासित होता है। परन्तु वह शब्दत्व शक्तियों के औपाधिक भेद से भिन्न होने पर भी स्वतः भेदशून्य है। कात्यायन और पतञ्जलि ने इसी शब्दब्रह्म की व्याख्या 'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे' के द्वारा की है। विश्व का समस्त वाङ्मय उसी की प्राप्ति के लिए है। पाणिनि ने उसे प्रातिपदिक कहा है। वहीं संज्ञा है वही संज्ञी है। वही स्फोट, ध्वनि, व्यक्ति एवं जाति है। समग्र व्याकरणशास्त्र का निर्वचन करने के उपरान्त वह शब्दब्रह्म 'अ' अक्षररूप में अवशिष्ट रह जाता है।[१] क्योंकि उपाधिभूत व्यञ्जक ध्वनि असत्य है। शब्दब्रह्म का महत्त्व एवं उपादेयता प्रतिपादित करते हुए व्यास जी ने लिखा है कि शब्दब्रह्म में पारंगत व्यक्ति ही परब्रह्म को प्राप्त कर सकता है अर्थात् मुक्त हो सकता है।[२] ऐतरेय ब्राह्मण तथा बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार यह वाक् तत्त्व ही भुवनकर्त्ता है, इसी अभिप्राय को श्रुति में 'वागेव विश्वा भुवनानि बुभुजे' तथा 'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे' के द्वारा स्पष्ट किया है।

अर्थात् वाक् तत्त्व ही विश्व का निर्माण, पालन एवं संहार करता है। इसी वाक्तत्त्व की व्यापकता का महत्त्व वेद में स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि यह वाक् ही समस्त भुवन में चारो ओर व्याप्त है, अर्थात् जहाँ तक 'ब्रह्म तत्त्व' है उतना और वहाँ तक वाक् तत्त्व भी व्याप्त है।[१] वैयाकरण जिसे स्फोट और ध्वनि कहते हैं, यजुर्वेद में उसे ही ब्रह्म एवं 'क्षत्र' शब्दों के द्वारा प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि लोक में ब्रह्मशक्ति और क्षत्रशक्ति दोनों के समन्वय से ही श्री (प्रज्ञा, प्रतिभा, ऐश्वर्य) की प्राप्ति होती हैं।[२] दर्शन के क्षेत्र में प्रसिद्ध ब्रह्म, ईश्वर, हिरण्यगर्भ एवं विराट् के समानान्तर स्थितियाँ व्याकरण दर्शन में परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं बैखरी हैं। परावाक् में वाक् उपरत रहती हैं, ब्रह्म में समग्र विश्व पश्यन्ती में गुञ्जित रहती हैं, यथा— 'एकोऽहं बहुस्याम्' की स्थिति है। मध्यमा में ध्वनित (अनाहत रूपेण) होती है, जैसे हिरण्यगर्भ की अवस्था में होती है।

इस प्रकार परावाक् स्फोट ही ब्रह्मस्वरूप हैं। जिसे सांख्य ने पुरुष, वेदान्त ने ब्रह्म, योग ने पुरुष-विशेष 'ईश्वर' कहा है, उसी को वैयाकरणों ने शब्द, स्फोट, शब्दत्व, शब्दब्रह्म, वाक्तत्त्व आदि नामों से कहा है।

●●●

---

१. अ अ अष्टाध्यायी ८/४/६७।
२. शब्दब्रह्मणि निष्णान्तः परं ब्रह्माधिगच्छति। महाभारत शा०प० २३२-३०।

उपसंहार

भाषा विचारों की संवाहिका होती है। भाषागत शब्दों अथवा पदों में ही अर्थ प्रदान करने की शक्ति मानी गई है। शब्द या पद शुद्ध होने पर ही अपने वाच्य अर्थ का अभिधान कर सकते हैं, यदि शब्दों के उच्चारण में दोष आ गया तो शब्द अपने वास्तविक अर्थ को नहीं स्पष्ट कर सकता ; अपितु प्रयोक्ता का अनिष्ट भी सम्पादित कर देगा। भाषा की शुद्धता के लिए व्याकरण का ज्ञान अपरिहार्य है। संस्कृत व्याकरण का मूल आधार भगवान् पाणिनिकृत अष्टाध्यायी को स्वीकारा गया है, जिस पर कात्यायन अथवा वररुचि द्वारा विरचित वार्तिकपाठ तथा महर्षि पतञ्जलि द्वारा विरचित महाभाष्य प्राप्त होता है, ये दोनों ही ग्रन्थ पाणिनि की अष्टाध्यायी के अध्ययन के लिए प्रकाशस्तम्भ का कार्य करते हैं। इनमें भी महाभाष्य तो अप्रतिम ग्रन्थ है, जिसमें वार्तिकों की व्याख्या के साथ ही साथ अष्टाध्यायी के सूत्रों को भी आधार बनाया गया है। महर्षि पतञ्जलि अपने विचारों के प्रस्तुतीकरण के लिए यत्र-तत्र ऐसे उदाहरणों को प्रस्तुत करते हैं, जिससे दुरूह से दुरूह विषय भी सरलता से हृदयंगम हो जाता है, महाभाष्य में विषय के गाम्भीर्य के कारण कहीं-कहीं दुरूहता भी आ गई है, जिसके मूल में महाभाष्यकार का दार्शनिक चिन्तन ही कहा जा सकता है। अतः इस महाग्रन्थ के दार्शनिक अनुशीलन की आवश्यकता प्रतीत हो रही थी। यद्यपि अनेक विद्वानों ने इस पर अपने-अपने विचारों का प्रस्तुतीकरण किया है परन्तु कोई भी मानवकृति सर्वांगपूर्ण नहीं हो सकती। मेरे मन में कुछ ऐसे भाव उत्पन्न हुए जो पूर्ववर्ती ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होते, अतः यह आवश्यकता प्रतीत हुई कि इस विषय पर पुनः विचार होना चाहिए इसी धारणा से प्रेरित होकर मैं इस महाग्रन्थ का अध्ययन करने में संलग्न हुआ। मेरे इस ग्रन्थ में महाभाष्य से सन्दर्भित एक विस्तृत भूमिका के साथ ही साथ कुल आठ अध्याय हैं सभी अध्यायों का वर्ण्यविषय यथासम्भव विवेचित है, इनके विवेचन में यद्यपि मैंने अपनी अत्यल्प बुद्धि का समुचित उपयोग किया है फिर भी सम्भावित न्यूनतायें अपना स्थान बना ही लेती हैं। महाभाष्य जैसा दुरूह विषय उसमें भी प्राप्त दार्शनिक विचार मुझ जैसे सामान्य व्यक्ति की समझ से सर्वथा परे की वस्तु है फिर भी मैं इस कार्य में प्रवृत्त हो सका यह मेरे पूर्वकृत पुण्य कार्यों का सत्फल ही है। विषय की व्यापकता ने भी मुझे इस कार्य में प्रवृत्त होने के लिए विवश किया है। कभी-कभी किसी दार्शनिक चिन्तन की गुत्थी सुलझाने के लिए विद्वानों की शरण में जाना पड़ा है, जिससे मुझे परम सन्तोष की अनुभूति हो रही है।

●●●

विषयानुकूल ग्रन्थरत्नानि

- **(बृहत्) अनुवाद रत्नाकर**। डॉ० रमाकान्त त्रिपाठी
- **अष्टाध्यायी**। 'चन्द्रलेखा' हिन्दी व्याख्या एवं अनेकोपयोगी विषययुक्त। पं० ईश्वरचन्द्रशर्मा। १-२ भाग
- **अष्टाध्यायी**। 'शान्ति' संस्कृत-हिन्दी टीका सहित। डॉ० नरेश झा
- **काशिका**। विस्तृत हिन्दी व्याख्या सहित। पं० ईश्वरचन्द्र शर्मा
- **कृत्प्रत्ययविश्लेषण**। कृत्प्रत्ययों का व्यापक तथा विशद् विश्लेषण। डॉ० गोपबन्धु मिश्र
- **परमलघुमञ्जूषा**। संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित। पं० वंशीधर मिश्र
- **परिभाषेन्दुशेखर**। तात्याशास्त्रीकृत 'भूति' टीका सहित
- **परिभाषेन्दुशेखर**। 'सुबोधिनी' हिन्दी व्याख्या सहित। आचार्य विश्वनाथ मिश्र
- **पाणिनीयशिक्षा**। 'वेदाङ्गशिक्षाविमर्श' संस्कृत एवं 'नारायणी' हिन्दी व्याख्या एवं परिशिष्ट सहित
- **प्रबन्धरत्नाकर**। (शास्त्री, आचार्य, बी.ए., एम.ए. आदि परीक्षोपयोगि शताधिक निबन्धों का संग्रह)। डॉ० रमेश चन्द्र शुक्ल
- **प्रौढमनोरमा**। (कारकादव्ययीभावान्तोभाग) सशब्दरत्न बालप्रकाशिका संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित। डॉ० रमाकान्तपाण्डेय
- **प्रौढमनोरमा** (पञ्चसन्ध्यन्त)। 'शब्दरत्न', 'भैरवी' एवं हिन्दीव्याख्या सहित। डॉ० रमाकान्त पाण्डेय
- **बृहद्धातुशब्दरूपसंग्रह**। डॉ० रामकिशोरशर्मा
- **बृहद्धातुसुकुमाकर**। (सिद्धान्तकौमुदी के सभी धातु-रूपों का संग्रह)। पं० हरेकान्तमिश्र
- **बृहच्छब्दकुसुमाकर**। (शब्दरूपों का संग्रह)। पं० हरेकान्त मिश्र
- **मुग्धबोधव्याकरण**। बोपदेवविरचित। श्रीदुर्गादासतर्कवागीश, श्रीरामतर्कवागीशकृत टीका सहित। सम्पा. पं० जीवानन्दविद्यासागर
- **लघुशब्देन्दुशेखर**। 'भैरवी', 'चन्द्रकला' एवं 'बैकुण्ठी' हिन्दी टीका सहित। बैकुण्ठनाथ शास्त्री
- **लघुसिद्धान्तकौमुदी**। विवेचनात्मक 'माहेश्वरी' हिन्दी व्याख्या सहित। डॉ० महेशसिंहकुशवाहा। १-२ भाग

चौखम्बा विद्याभवन
वाराणसी

चौखम्बा इण्डोवेस्टर्न पब्लिशर्स
वाराणसी

email : cvbhawan@yahoo.co.in
www.indowesternpublishers.com

ISBN : 978-93-85098-38-3 [HB]